प्रकाशक
स्वामी भास्करेश्वरानन्द,
अध्यक्ष, श्रीरामकृष्ण आश्रम,
धन्तोली, नागपुर–१, म प्र.

श्रीरामकृष्ण-शिवानन्द स्मृतिग्रन्थमाला
पुष्प २८ वाँ (अ)

प्रथम संस्करण,	अक्टूबर	१९४९,	२६४४	प्रतियाँ
द्वितीय संस्करण,	जुलाई	१९५१,	५३१६	,,
तृतीय संस्करण,	मई	१९५२.	३५००	,,
चतुर्थ संस्करण,	मार्च	१९५३,	२५००	,,

मुद्रक
रामगोपाल गिरधारीलाल श्रीवास,
बजरंग मुद्रणालय,
कर्नलबाग, स न. २, नागपुर।

मूल्य १)

वक्तव्य

'महापुरुषों की जीवनगाथायें' पुस्तक का यह नवीन चतुर्थ संस्करण है। प्रस्तुत पुस्तक में स्वामी विवेकानन्द के कुछ उन व्याख्यानो का सग्रह है जो उन्होने अमेरिका मे ससार के कुछ अवतारो एव महान् आत्माओ की जीवनी तथा उनके उपदेशो पर दिए थे। ये व्याख्यान प्राच्य सस्कृति और विशेषकर भारतीय शिक्षा-दीक्षा एव सभ्यता के विशेष द्योतक है। महान् अवतारों की जीवनी की विवेचना एव मीमासा जिस प्रकार स्वामीजी ने की है वह बडी अमूल्य तथा अपने ही ढंग की है। इससे पाठकों के वैयक्तिक चरित्र-गठन को सजीवनी प्राप्त होती है और जन-समुदाय तथा समाज के लिए भी यह लाभदायक है। विद्यार्थियों तथा किशोर छात्रो का इन उदार एव महान् जीवन-चरित्रो से बडा ही हित होगा।

हम श्री हरिवल्लभ जोशी, एम ए, के बड़े आभारी है जिन्होंने यह अनुवाद बड़ी सफलतापूर्वक किया है।

नागपुर,
दि १-३-१९५३

प्रकाशक

अनुक्रमणिका

विषय	पृष्ठ



स्वामी विवेकानन्द

महापुरुषों की जीवनगाथायें

रामायण

(३१ जनवरी १९०० ई. को कैलिफ़ोर्निया के अन्तर्गत पॅसाडेना नामक स्थान में 'शेक्सपियर-सभा' में दिया गया भाषण ।)

गीर्वाण भारती का भण्डार शत शत काव्यरत्नो से परिपूर्ण है, किन्तु उनमे दो महाकाव्य अत्यन्त प्राचीन है। यद्यपि आज दो सहस्र वर्षों से सस्कृत बोल-चाल की भाषा नही रही है, तथापि उसकी साहित्य-सरिता आज तक अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित हो रही है। मै आज उन्ही दो प्राचीन महाकाव्यो रामायण व महाभारत के सम्बन्ध मे अपने विचार प्रकट करूँगा। इन दोनो महाकाव्यो मे प्राचीन आर्यावर्त की सभ्यता और सस्कृति, तत्कालीन आचार-विचार व सामाजिक अवस्था लिपिबद्ध है। इन महाकाव्यो मे प्राचीनतर 'रामायण' है—जिसमे राम के जीवन की कथा कही गयी है। रामायण के पूर्व भी सस्कृत मे काव्य का अभाव न था। भारतीयो के पवित्र धर्मग्रथ वेदो का अधिकाश पद्यमय ही है, किन्तु सर्व-सम्मति से भारतवर्ष मे रामायण ही आदि-काव्य माना जाता है।

इस आदि-काव्य के प्रणेता है आदिकवि महर्षि वाल्मीकि। कालान्तर मे अनेक काव्यमय आख्यायिकाओ का कर्तृत्व भी उन्ही

आदि-कवि पर आरोपित किया गया और बाद मे तो इस महाकवि के नाम से अपनी रचनाये प्रचलित करने की एक प्रथा-सी चल पडी। किन्तु इन सब क्षेपको व प्रक्षिप्ताशो के होते हुए भी, रामायण हमे अत्यन्त सुग्रथित रूप मे प्राप्त हुई है और वह विश्वसाहित्य मे अप्रतिम है।

प्राचीन काल मे किसी निबिड वन-प्रदेश मे एक युवक निवास करता था। वह अत्यन्त बलवान और दृढ था। जब वह किसी भी प्रकार अपने आत्मीयो का भरण-पोषण करने मे सफल न हुआ, तो अन्त मे उसने दस्यु-वृत्ति स्वीकार कर ली। अब वह पथिको पर आक्रमण करता और उनकी सम्पत्ति लूटकर अपने माता-पिता और स्त्री-पुत्रादि का उदर-पोषण करता। इस प्रकार कई वर्ष बीत गये। एक समय की बात है कि सयोगवश महर्षि नारद मर्त्यलोक का भ्रमण करते हुए उसी वन मे से निकले और उस दस्यु युवक ने उन पर आक्रमण किया। महर्षि ने उससे पूछा, "तुम मुझे क्यो लूट रहे हो? मनुष्यो का धन अपहरण करना और उनका वध करना एक बडा जघन्य दुष्कृत्य है। तुम क्यो यह पाप संचय कर रहे हो?" दस्यु ने उत्तर दिया, "मै इस अपहृत धन द्वारा अपने कुटुम्बियो का पालन करता हूँ।" देवर्षि नारद यह सुनकर बोले, "दस्यु युवक! क्या तुमने कभी इस बात का भी विचार किया है कि तुम्हारे आत्मीय जन तुम्हारे पाप मे भी सह-भागी होगे?" दस्यु बोला, "निश्चय ही वे सब मेरे पाप का भाग भी ग्रहण करेगे।" इस पर देवर्षि बोले, "अच्छा, तुम एक काम करो। मुझे इस वृक्ष से बाँध दो और घर जाकर अपने स्वजनो से जरा पूछो तो कि क्या जिस प्रकार वे तुम्हारे पापाचरण द्वारा प्राप्त वित्त का उपभोग करते हैं उसी

प्रकार तुम्हारे संचित पापों का अंश भी ग्रहण करेंगे?" दस्यु दौड़ता हुआ अपने पिता के पास पहुँचा और उसने पूछा, "पिताजी, क्या आप जानते हैं मैं किस प्रकार आपका पालन-पोषण करता हूँ?" पिता बोले, "नहीं तो।" तब वह बोला, "मैं दस्यु हूँ पथिकों को काल के पास पहुँचाकर मैं उनका धन अपहृत कर लिया करता हूँ।" पिता ने यह सुना तो क्रोध से आरक्तनयन हो बोले, "नीच! पापी!! कुलांगार!!! तुम मेरे पुत्र होकर यह पाप-कृत्य करते हो? दूर हटो मेरे सामने से और अब मुझे अपना काला मुँह न दिखाना।"

दस्यु यह सुन उलटे पैरों वहाँ से लौटकर अपनी माँ के पास पहुँचा। उसने माँ से भी दस्युवृत्ति द्वारा अपहृत धन से कुटुम्ब-पालन करने की कथा कह सुनाई। माँ यह सुनते ही चीत्कार कर बोल उठी, "उफ! कितना घोर दुष्कर्म!" पर दस्यु के पास यह सब सुनने का धैर्य कहाँ था! उसने अधीर होकर पूछा, "पर माँ! क्या तुम मेरे पाप का भी भाग ग्रहण करोगी?" माँ ने अम्लमान-मुख से कहा, "कौन, मैं? मैं क्यों तुम्हारे पाप का भाग ग्रहण करूँ? मैंने थोड़े ही किसी को लूटा है!" माँ का उत्तर सुन दस्यु चुपचाप अपनी पत्नी के पास पहुँचा। उसने पुनः वही प्रश्न दुहराया, "क्या तुम जानती हो मैं किस भाँति तुम्हारी आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता हूँ?" जब पत्नी ने भी 'नहीं' कहा तो दस्यु ने कहा, "तो सुन लो। मैं एक दस्यु हूँ एक डाकू और लुटेरा हूँ। वर्षों से मैं पथिकों को लूट-लूटकर तुम सबका उदर-पोषण कर रहा हूँ। और आज मैं तुमसे यह पूछने आया हूँ कि क्या तुम मेरे पाप में मेरी सहभागी बनोगी?" पत्नी ने तत्क्षण उत्तर दिया, "नहीं कदापि नहीं! तुम मेरे पति

हो—और मेरा पालन करना तुम्हारा कर्तव्य है। तुम किसी भी भाँति अपनी कर्तव्य-पूर्ति क्यो न करो मैं तुम्हारे कार्यों का अशुभ फल ग्रहण नही करूँगी।"

दस्यु ने जब यह सुना तो उसके पैरो तले की जमीन खिसक गई। पर अब उसकी आँखे खुल गई थी। उसने कहा, "यह है इस स्वार्थपूर्ण ससार की रीति! जिनके लिये मैं यह पापकृत्य कर रहा हूँ वे मेरे आत्मीय भी मेरे प्रारब्ध के भागी नही होगे।" यही सोचते सोचते वह उस स्थान पर आया जहाँ उसने देवर्षि को बाँध रखा था और उन्हे बंधनमुक्त कर वह उनके पदाम्बुजो मे पतित हो, आद्योपान्त सारी घटना सुनाकर बोला, "प्रभो! मेरी रक्षा करो मुझे सन्मार्ग दिखाओ।" तब महर्षि नारद ने उसे स्नेहपूर्ण वाणी मे उपदेश दिया, "वत्स! इस पापपूर्ण दस्युवृत्ति का परित्याग कर दो। तुमने देख लिया है कि तुम्हारे स्वजनो को तुमसे यथार्थ मे स्नेह नही है इसलिये इन सब मोहपूर्ण भ्रान्तियो का त्याग कर दो। तुम्हारे परिवारजन, तुम्हारे ऐश्वर्य मे तुम्हारा साथ देगे, पर जिस क्षण उन्हे ज्ञात हो जायगा कि तुम दरिद्र हो गये हो, उसी क्षण वे तुम्हे तुम्हारे दु:ख मे अकेला छोडकर चले जायेगे। ससार मे सुख व पुण्य के भागी तो अनेको हो जाते हैं किन्तु दु:ख और पाप का साथी कोई नही होना चाहता। इसलिये उस दयानिधि परमेश्वर की उपासना करो जो सुख-दु:ख, पाप-पुण्य सभी अवस्थाओ मे तुम्हारा साथ देता है और रक्षा करता है। वह कदापि हमारा परित्याग नही करता, क्योकि उसका प्रेम यथार्थ है और यथार्थ प्रेम मे कभी विनिमय नही होता। वह स्वार्थपरता से कोसो दूर रहता है और वह आत्मा को उन्नत बनाता है।"

तदुपरान्त देवर्षि नारद ने उस दस्यु युवक को ईश्वरोपासना की विधि सिखलाई। उनके उपदेशो से प्रभावित हो दस्यु का हृदय मोहशून्य हो गया और वह सर्वस्व परित्याग कर सघन अरण्यप्रदेश मे साधना करने चला गया। वहाँ ईश्वराराधना और ध्यान मे वह धीरे धीरे इतना तल्लीन हो गया कि उसे देह-ज्ञान भी न रहा। यहाँ तक कि चीटियो ने उसकी देह पर अपने वल्मीक बना लिये और उसे इसका भान तक न हुआ। अनेक वर्ष व्यतीत हो जाने पर एक दिन दस्यु को यह गभीर ध्वनि सुनाई पड़ी, "उठिये, महर्षि, उठिये।" वह चकित होकर बोल उठा, "महर्षि? नही मैं तो एक अधम दस्यु हूँ।" फिर वही गम्भीर वाणी उसे सुनाई दी, "अब तुम दस्यु नही रहे अब तुम्हारा हृदय पवित्र हो गया है तुम अब तपोपूत महर्षि हो और आज से तुम्हारे पापो के नाश के साथ साथ तुम्हारा वह पुराना नाम भी लुप्त हो जायगा। तुम्हारी समाधि इतनी गहन थी तुम ईश्वर-ध्यान मे इतने तल्लीन हो गये थे कि तुम्हारी देह के चतुर्दिक जो वल्मीक बन गये, उनका तुम्हे ज्ञान तक न हुआ इसलिये आज से तुम वाल्मीकि के नाम से प्रसिद्ध हुए।" इस प्रकार वह दस्यु ध्यान और तपस्या के बल से एक दिन महर्षि वाल्मीकि के नाम से विख्यात हो गया।

और जिस प्रकार इस विगत-मोह महर्षि के हृदय से काव्य-सरिता बह निकली उसकी कथा इस प्रकार है। एक दिन पवित्र भागीरथी-सलिल मे अवगाहनार्थ जाते हुए महर्षि ने एक क्रौञ्च-मिथुन को प्रणयकेलि मे मग्न हो परस्पर का आलिंगन करते हुए परमानन्द मे मग्न देखा। महर्षि इस प्रणय-क्रीडा को देखकर अतीव हर्षित हुए, किन्तु उसी क्षण उनके समीप से एक सनसनाता

हुआ। तीर निकला जिसने नर-क्रौंच को विद्ध कर उसकी जीवन-लीला समाप्त कर दी। उसे भूमि-पतित देखकर क्रौञ्च-वधू शोकाभिभूत हो उसकी मृत देह के चतुर्दिक मँडराने लगी। महर्षि यह करुण दृश्य देख शोकविह्वल हो गये - और जब उनकी दृष्टि इस क्रूर कर्म के कर्ता निष्ठुर वधिक की ओर गई तो उनके दुख और शोक का आवेग, उनके हृदय की करुणा इस निम्न श्लोक का रूप धारण कर उनके मुख से निःसृत हो गई

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः ।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥

वे बोल उठे, "हे व्याध! हे क्रूर पाषाणहृदय व्यक्ति! क्या तुममे बिन्दु-मात्र भी दयाभाव नही है जो तुम्हारे कठोर हाथ प्रणयक्रीडामग्न दो भोले पक्षियो को देखकर क्षण के लिये भी अपना विध्वंसकार्य करते न रुके? जाओ तुम्हारे हृदय को अनन्त काल तक भी शान्ति प्राप्त न हो।"

मुख से इस श्लोक के निर्गत होते ही महर्षि मन मे सोचने लगे, "यह क्या है? यह मै क्या बोल रहा हूँ? इसके पूर्व तो कभी मैं इस प्रकार नही बोला था?" उसी समय उन्हे एक वाणी सुनाई दी, "वत्स, डरो मत, आज तुम्हारे हृदय की विगलित करुणा, कविता बन प्रकट हो रही है और तुम लोक-कल्याण के लिये ऐसी ही काव्यमय भाषा मे राम के चरित्र का वर्णन करो।" इस प्रकार प्रथम-कविता की सृष्टि हुई। इस प्रकार विश्व के इस अप्रतिम महाकाव्य भारतीयो के आदि-काव्य रामायण की रचना प्रारम्भ हुई। प्रथम कवि वाल्मीकि के हृदय की करुणा ही विश्व के आदि-काव्य का आदि श्लोक बन गई और उसके बाद महर्षि ने परम मनोहर रामायण महाकाव्य की रचना की।

भारतवर्ष मे अयोध्या नाम की एक सुन्दर नगरी थी जो आज भी विद्यमान है। भारत के मान-चित्र मे आपने देखा होगा, जिस प्रान्त मे इस नगरी का स्थान-निर्देश किया गया है उसे आज भी अवध ही कहते है। यही प्राचीन अयोध्या थी। वहाँ पुरातन काल मे राजा दशरथ राज्य करते थे। उनका अन्त पुर तीन रानियो से सुशोभित था, किन्तु अब तक राजा को पुत्र के मुखावलोकन का सौभाग्य प्राप्त नही हुआ। इसलिये धर्मपरायण हिन्दुओ की भाँति, राजा अपनी तीनो रानियो सहित, पुत्र-कामना से व्रतोपवास धारण कर, देवाराधना करते हुए दिन यापन करने लगे। कालान्तर मे राजा को चार पुत्र-रत्न प्राप्त हुए। उनमे सबसे ज्येष्ठ राम थे। चारो राजकुमार अत्यन्त कुशाग्रबुद्धि थे। उन्होने शीघ्र ही सभी विद्याओ मे प्रवीणता सम्पादित कर ली।

उसी युग मे एक और राजा थे जिनका नाम जनक था। उनके सीता नामक एक अनिन्द्य-सुन्दरी कन्या थी। सीता एक खेत मे मिली थी, वे सर्वसहा पृथ्वी की पुत्री थी उनके जन्म-दाता कोई नही थे। प्राचीन सस्कृत मे सीता शब्द का अर्थ होता है हलकृष्ट भूमिखण्ड, जोती हुई भूमि। भारत के प्राचीन पुराणो में इस प्रकार के अलौकिक जन्मो की अनेक कथाये मिलती हैं। पुराणो मे सर्वत्र ऐसे व्यक्तियो का वर्णन मिलता है जिनका जन्म केवल पिता से ही हुआ है या माता से, या जिनके कोई जनक-जननी ही न थे जिनका जन्म मुखाग्नि से हुआ है या कृष्टभूमि से हुआ मानो ये व्यक्ति आकाशगामी बादलो से गिरकर पृथ्वी पर अवतीर्ण हो गये हो।

सीता तो पृथ्वी-सुता ही थी अतएव वे निष्कलंक और

शुद्ध थी। राजा जनक ने उनका लालन-पालन किया। जब सीता आसन्नयौवना हुईं तो राजा ने उनके लिये एक सुयोग्य वर ढूँढना चाहा।

प्राचीन भारत मे विवाह की 'स्वयवर' नामक एक प्रथा थी जिसमे राज-पुत्रियाँ स्वय अपने पति का निर्वाचन करती थीं। देश के विभिन्न प्रदेशो से राजपुत्र-जन निमत्रित किये जाते थे और पतिवरा राजकुमारी सुन्दर वस्त्राभरण-विभूषिता हो, कर मे वरमाला धारण कर एकत्र राजपुत्र-समुदाय के मध्य जाती थी उसके साथ विभिन्न राजपुत्रो की वशावली व शौर्य-प्रताप से परिचित एक चारण रहता था जो उसे विवाहेच्छु राजकुमारो के सम्मुख ले उनका विरुद्गान करता था। राजकन्या जिस राजपुत्र को अपना हृदयेश्वर मनोनीत करती उसी के गले मे वरमाला अर्पण कर देती थी और इसके बाद बड़े समारोह के साथ पाणि-ग्रहण-सस्कार सम्पन्न होता था। इन स्वयवरो मे कभी कभी विवाहेच्छु राजपुत्रो के विद्याबुद्धि-बल के परीक्षणार्थ कुछ विशेष प्रण भी निर्दिष्ट कर दिये जाते थे।

मिथिला की अनिन्द्य-सुन्दरी राजकन्या से विवाह करने के लिये अनेक राजपुत्र उत्सुक थे। इस अवसर पर विशाल हर-धनु को भग करने का प्रण रखा गया था। सभी राजपुत्र इस शौर्य-पूर्ण कार्य को सम्पादित करने के लिये प्राणपण से प्रयत्न करने लगे——किन्तु असफल रहे। अन्त मे राम ने प्रचण्ड हर-धनु को अपने बलवान हाथो से उठाकर सहज ही मे दो खण्डों मे भग कर दिया। इस प्रकार सीता ने दशरथ के पुत्र राम को वरमाला अर्पित कर दी, पुरजनो के आनन्द की सीमा न रही और आनन्दोत्सव के साथ राम और सीता की परिणय-क्रिया सम्पन्न हुई।

किसी राजा के निधन के पश्चात् राजपुत्रों में सिंहासन के लिये विग्रह न हो इसलिये उस युग में राजा के जीवन-काल में ही किसी एक राजपुत्र को युवराज नियुक्त कर देने की प्रथा थी। जब राम अपनी नवोढ़ा रानी के साथ अयोध्या आ गये, तो दशरथ ने सोचा कि मैं अब वृद्ध हो चला हूँ और राम भी वय-प्राप्त हो गये हैं इसलिये ये युवराज-पद पर अभिषिक्त कर दिये जायँ। शीघ्र ही इस मंगल उत्सव की सारी तैयारियाँ हो गईं और सारी नगरी में हर्ष की लहरें उमड़ पड़ीं। किन्तु इसी समय राजा की प्रियतमा राजमहिषी कैकेयी की एक परिचारिका ने राजा द्वारा किसी समय प्रदान किये गये दो वरों का स्मरण उसे कराया। किसी समय राजा दशरथ कैकेयी से अत्यन्त प्रसन्न हो गये थे और उन्होंने उसे दो वर माँगने को कहा। वे बोले, "तुम कोई भी दो वर मुझसे माँग लो और यदि उन्हें पूर्ण करना मेरे सामर्थ्य के बाहर न हुआ तो मैं इसी क्षण उन्हें पूर्ण कर दूँगा।" किन्तु रानी ने उस समय कोई वर नहीं माँगा। वह तो यह घटना पूर्णतया भूल भी गई थी किन्तु उसकी दुष्ट-स्वभाव दासी ने उसके हृदय में ईर्ष्याग्नि प्रज्वलित कर दी। दासी ने रानी से कहा, "राम के युवराज होने पर भरत का क्या होगा! और कौशल्या जब राजमाता हो जायगी तो तुम्हें कोई न पूछेगा। यदि भरत राज्य के उत्तराधिकारी बन जायँ तो तुम राजमाता का गौरवमय स्थान प्राप्त करोगी और जीवन सुखपूर्ण हो जायगा।" दुष्ट दासी की मन्त्रणा से रानी ईर्ष्या-वश उन्मत्त-प्राय हो गई। अब उस दुष्ट दासी ने उसे अपने वरदान लेने के अधिकार का स्मरण करवाकर कहा, "राजा से इन दो वरों की प्रार्थना करो कि भरत युवराज-पद पर अभिषिक्त हों और राम चौदह वर्ष वनवास करें।"

राम तो राजा के जीवनधन थे   उनके प्राण और आत्मा
। एक ओर राम के वियोग का दारुण दुख   और दूसरी ओर
तिज्ञापालन का प्रश्न था   रघुकुल की मर्यादा की रक्षा का
वाल था। 'रघुकुल रीति सदा चलि आई। प्राण जायँ पर वचन
जाई।' राजा किंकर्तव्यविमूढ हो गये। तब राम ने राजा को
स उभय-सकट से रक्षा की। वे स्वय ही सिहासन त्याग कर वन-
मन के लिये प्रस्तुत हो गये जिससे पिता के वचन भग न हो।
स प्रकार राम ने चतुर्दश वर्ष के लिये वन की ओर प्रस्थान
कया   साथ मे उनकी प्रिय भार्या पतिपरायणा सीता और
नुज लक्ष्मण भी थे जो किसी भाँति राम का साथ नही छोड़ना
ाहते थे।

उन दिनो आर्यों को यह ज्ञात नही था कि इन सघन
नकान्तारो मे कौन निवास करते थे। वे इन वन्यजातियो को
वानर' कहते थे   और इन तथाकथित 'वानरो' मे या असभ्य
न्य जातियो मे जो अत्यन्त दृढ और असाधारण बलसम्पन्न थे
न्हे वे दैत्य या राक्षस कहते थे।

इस प्रकार राम, लक्ष्मण और सीता ने वानर व राक्षसगण
ारा अध्यूषित वन मे गमन किया। इसके पूर्व जब सीता ने राम
े साथ वन मे प्रयाण करने की अभिलाषा प्रकट की तो राम ने
हा, "राजप्रासाद मे निवास करनेवाली हे सीते! तुम किस
ाकार सकटपूर्ण वन-जीवन के कष्ट सह सकोगी?" किन्तु सीता
ोली, "नाथ! जहाँ आप जायेगे वही आपकी अर्धांगिनी सीता
ी छाया की भाँति साथ रहेगी। आप मुझसे 'राजकन्या' 'राज-
ाश-जन्म' की बाते क्यो कह रहे है? देव! मै तो सदैव
ापकी संगिनी ही बनकर रह सकती हूँ।" इस प्रकार असूर्य-

म्पश्या राजदारा सीता आमोदपूर्ण राज-सौधो की निवासिनी सीता ने पति के सग को अन्य आमोदो से अधिक सुखकर समझ राम का साथ न छोडा और अनुज लक्ष्मण भी भला बधु का वियोग कैसे सह सकते थे। वे भी उनके साथ ही गए।

वे गहन कान्तार-राजि पार कर गोदावरीतीरवर्ती रमणीय पञ्चवटी नामक स्थान मे पर्णकुटी बनाकर निवास करने लगे। राम और लक्ष्मण दोनो ही मृगया करने चले जाते और कुछ कन्द-मूल-फल भी सग्रह कर लाते। इस प्रकार निवास करते हुए कुछ काल व्यतीत हो जाने पर, एक दिन वहाँ लकाधिपति राक्षसराज रावण की बहिन शूर्पणखा आई। अरण्य मे स्वच्छन्द विचरण करते करते उसे एक दिन राजीव-लोचन राम दृष्टिगत हुए। उनके रूप-लावण्य पर मुग्ध हो वह उनसे प्रणय की भिक्षा माँगने लगी। किन्तु राम एक-पत्नीव्रतधारी थे, पुरुषोत्तम थे इसलिये राक्षसी की अभिलाषा पूर्ण करने मे असमर्थ थे। उसके हृदय मे प्रतिशोध की ज्वाला भड़क उठी। क्रुद्ध हो वह अपने भाई राक्षस-राज रावण के पास पहुँची और उसे सीता के अप्रतिम लावण्य की बात कही।

प्रचण्ड हर-धनु को भग करने से राम की सर्वाधिक शक्तिसम्पन्न पुरुष के रूप मे ख्याति हो गई थी। वे मर्त्यों मे सबसे अधिक बलिष्ठ थे। राक्षसो और दैत्यो तथा किसी अन्य जीवधारी मे उनसे लोहा लेने की शक्ति नही थी। इसलिये राक्षसराज रावण को सीता का हरण करने के लिये अपनी राक्षसी माया का आश्रय लेना पडा। उसने एक अन्य राक्षस की सहायता ग्रहण की। वह राक्षस अत्यन्त मायावी था। उसने एक सुन्दर स्वर्ण-मृग का रूप धारण किया और राम की पर्णकुटी के

सामने सुमनोहर नृत्य और अंग-भंगी प्रदर्शित कर क्रीडा करने लगा। सीता उसके लावण्य पर मुग्ध हो गई और उन्होंने राम से उसे पकड लाने की प्रार्थना की। राम ने सीता की रक्षा के लिये लक्ष्मण को वही छोड वन मे मृग का पीछा करना शुरू किया। तब लक्ष्मण कुटी के चतुर्दिक एक मत्रपूत अग्नि-वृत्त प्रज्वलित कर सीता से बोले, "देवि! मुझे आज आपके कुछ अनिष्ट होने की आशका हो रही है। इसलिये आप इस मत्रपूत अग्नि-वृत्त के बाहर पदार्पण न करे अन्यथा आपका कुछ अशुभ घटित हो जायगा।" इधर राम ने अपने एक तीक्ष्ण शर से उस माया-मृग को विद्ध कर दिया और वह तत्काल अपना स्वाभाविक रूप धारण कर पञ्चत्व को प्राप्त हो गया।

उसी क्षण पर्णकुटी के समीप राम का यह आर्त-स्वर सुनाई पडा, "दौड़ो लक्ष्मण, मेरी सहायता के लिये दौड़ो।" सीता ने यह सुनकर लक्ष्मण से तत्काल राम की सहायतार्थ वन मे जाने को कहा। लक्ष्मण बोले, "देवि! यह रामचन्द्र की कण्ठ-ध्वनि नही है।" किन्तु सीता के बार बार सानुक्रोश अनुरोध करने पर लक्ष्मण राम की खोज मे वन की ओर चले गये। उनके जाते ही राक्षस-राज रावण साधु-वेष मे कुटी के द्वार पर आ खडा हुआ और भिक्षा-याचना करने लगा। सीता बोली, "आप कुछ क्षण प्रतीक्षा करे, तब तक मेरे स्वामी आ जाते है फिर मैं आपको यथेष्ट भिक्षा दूँगी।" साधु बोला, "मैं अत्यन्त क्षुधार्थ हूँ, देवि! एक क्षण भी प्रतीक्षा करने मे असमर्थ हूँ। आप मुझे जो आपके पास है वही दे दे।" इस पर सीता कुटी मे रखे हुए जो थोड़े बहुत फल थे उन्हे बाहर ले आई। जब छद्म-वेषधारी साधु ने देखा कि वे अग्नि-वृत्त के भीतर से

ही भिक्षा दे रही है तो वह अत्यन्त विनयपूर्वक बोला, "देवि! काषायवस्त्रधारी साधुओ से क्या भय! आप बाहर पदार्पण कर सुगमता से भिक्षा प्रदान करे।" इस अनुनय-विनय व अनुरोध-भरी प्रार्थना से प्रभावित हो ज्योही वे अग्नि-वृत्त के बाहर आई त्योही उस छद्म-पूर्ण साधु ने राक्षस-देह मे प्रकट हो, सीता को अपने बलवान बाहुओ मे उठा लिया। फिर उसने अपने माया-रथ का आह्वान किया, और रोती हुई सीता को उसमे स्थापित कर वह लंका की ओर पलायन करने लगा। बेचारी नितान्त निरसहाय सीता! उस समय वहाँ कौन था जो उनकी सहायता करता? जब राक्षस-राज उन्हे अपने रथ मे ले जा रहा था तो सीता ने मार्ग मे कुछ कुछ अन्तर पर अपने अलकार गिरा दिये।

रावण सीता को अपने राज्य लका मे ले गया। उसने सीता से अपनी राज-महिषी का पद सुशोभित करने का अनुरोध किया और अपनी प्रार्थना स्वीकृत कराने के लिये कई प्रकार के भय-प्रलोभनादि दिखाये। किन्तु सीता तो स्वय सतीत्वधर्म की विग्रहस्वरूप थी। वे उस दुष्ट से बोली तक नही। रावण ने क्रुद्ध हो सीता को दण्डित करने के लिये जब तक वे उसकी पत्नी बनना स्वीकृत नही करती तब तक उन्हे एक वृक्ष के नीचे दिवा-रात्र निवास करने के लिये बाध्य किया।

जब राम और लक्ष्मण को लौटने पर कुटी मे सीता नही दिखी तो उनके शोक की सीमा न रही। सीता की क्या दशा हुई है इसकी वे कल्पना तक न कर पाये। दोनो भ्राता वन के विजन कण्टकाकीर्ण मार्गो मे सीता की खोज मे भटकते रहे, पर सीता का कोई चिह्न न मिलता था। इस प्रकार दीर्घ काल तक वन-वन

भटकने के पश्चात् उनकी एक 'वानर'-यूथ से भेट हुई। इन्ही वानरो मे देवांशसम्भूत हनुमान थे। कालान्तर मे ये ही वानर-श्रेष्ठ हनुमान राम के अनन्य सेवक बन गये और उन्होने सीता के उद्धार मे राम की विशेष सहायता की। राम के प्रति हनुमान की भक्ति और श्रद्धा इतनी अनन्य थी कि आज भी हिन्दू उन्हे परम गहन सेवाधर्म के आदर्श व प्रभु के अप्रतिम सेवक की भाँति पूजते है। यहाँ आप यह स्मरण रखे कि वानरों और राक्षसो से हमारा मतलब है दक्षिण भारत के आदि-निवासी। हाँ तो इस प्रकार अन्त मे राम की वानरो से अचानक भेट हो गई। वे राम से बोले कि उन्होने आकाश-मार्ग से जाता हुआ एक रथ देखा। उसमे एक राक्षस था, जो एक परम सुन्दरी रमणी को बलपूर्वक ले जा रहा था। वह स्त्री अत्यन्त करुण विलाप कर रही थी और जब रथ उनके ऊपर से गया तो उनका ध्यान आकर्षित करने के लिये उस स्त्री ने अपने रत्नाभरण उनके पास फेक दिये। लक्ष्मण ने उन आभरणो को लेकर कहा, "मुझे ज्ञात नही ये किनके है।"-

"नाह जानामि केयूरे, नाह जानामि कुण्डले।
नूपुरे त्वभिजानामि नित्य पादाभिवन्दनात्॥"

राम ने उन्हे देखते ही पहिचान लिया और वे बोल उठे, "अरे! ये तो सीता के ही है।" लक्ष्मण उन आभरणो को इसलिये नही पहिचान सके कि भारत मे ज्येष्ठ बधु की भार्या इतनी सम्मान-पूर्ण दृष्टि से देखी जाती थी कि लक्ष्मण ने कभी उनके बाहुओ व ग्रीवा-देश पर दृष्टिपात नही किया था। स्वाभाविकतया उन कण्ठहारादि को लक्ष्मण नही पहचान सके। इस कथा-भाग मे भारत की उसी प्राचीन प्रथा का आभास पाया जाता है।

तदुपरान्त वानरों ने राम को रावण का नाम-धाम व पता बताया और वे सब सीता की खोज में राम की सहायता करने लगे।

उन्हीं दिनों वानर-राज बालि व उसके अनुज सुग्रीव में सिंहासन के लिये विवाद हो रहा था। अमितशक्तिशाली राम ने सुग्रीव की सहायता की और बालि से राज्य छीनकर उसके न्यायपूर्ण अधिकारी निर्वासित सुग्रीव को प्रदान कर दिया। सुग्रीव ने कृतज्ञ हो, राम को सहायता का वचन दिया। वानरों ने सारे देश को सीता की खोज में छान डाला, पर उनको कहीं भी पता न चला। अन्त में कपि-शार्दूल, पवन-सुत हनुमान ने एक ही छलांग में विशाल उदधि पार कर, सीता को खोजने लंका में प्रवेश किया, किन्तु सर्वत्र अन्वेषण कर लेने पर भी सीता कहीं नहीं दिखी।

आपको ज्ञात होगा राक्षसराज रावण ने देव-मानवादि सब, यहाँ तक कि सकल ब्रह्माण्ड पर विजय पा ली थी। उसने विश्व की सुन्दर युवतियों को बलपूर्वक अपनी उपपत्नियाँ बना ली थीं। हनुमान ने सोचा, "सीता का उनके साथ राजप्रासाद में होना तो असम्भव है ऐसे स्थान में वास करने की अपेक्षा तो वे मृत्यु को ही अधिक श्रेयस्कर समझेंगी।" अतएव हनुमान अन्यत्र सीता की खोज करने लगे। अन्ततोगत्वा उन्होंने सीता को एक वृक्ष के नीचे देखा। कृशगात्री और पाण्डु-वर्ण सीता उन्हें क्षितिज में नवोदित प्रतिपदा की शशिकला-सी प्रतीत हुईं। हनुमान एक अल्पकाय क्षुद्र वानर का रूप धारण कर उस वृक्ष पर आसीन हो गये। वहाँ से उन्होंने देखा किस प्रकार रावण-द्वारा प्रेषित राक्षसीगण सीता को नाना प्रकार के भय दिखलाकर वशीभूत

करने की चेष्टा कर रही है किन्तु सीता दुष्ट रावण के नाम तक को कर्णगोचर न होने देती थी।

उनके प्रस्थान करने पर, हनुमान सीता के समीप आकर बोले, "देवि! रामचन्द्र ने आपके अन्वेषणार्थ मुझे अपना दूत बनाकर भेजा है।" तब हनुमान ने सीता को विश्वास दिलाने के लिये रामप्रदत्त मुद्रा दिखाई। उन्होंने सीता से यह भी विज्ञापित किया कि उनका पता लगते ही राम एक सागर-सी विशाल सेना लेकर राक्षस को पराजित करेंगे और उनका उद्धार करेंगे। यह सब निवेदन करने के पश्चात् हनुमान बोले, "देवि, यदि आपको आपत्ति न हो तो मैं अपने सुदृढ कंधो पर आपको बिठा, एक ही छलांग में विशाल उदधि को लाँघकर राम के पास पहुँचा दूँ।" पर सीता तो स्वयं सतीत्व की प्रतिमा थी उन्हें तो परपुरुष-स्पर्श की कल्पना तक असह्य थी। इसलिये वे वहीं रहीं, पर उन्होंने अपने केशो से एक मणि निकालकर राम तक पहुँचाने के लिये हनुमान को दे दी और हनुमान उसे लेकर लौट आये।

हनुमान से सीता का संवाद पाकर, राम ने एक सेना संगठित की, और उसे ले भारत के सुदूर-दक्षिण प्रदेश की ओर प्रयाण किया। वहाँ राम के आज्ञाकारी, स्वामी-भक्त वानरो ने एक-विशाल सेतु का निर्माण किया। इसका नाम सेतु-बंध है और इससे भारत और लंका की सीमायें संलग्न हो गईं। उथले पानी में अब भी भारत से लंका में इन बालुका-स्तूपों की सहायता से जाया जा सकता है।

राम ईश्वर के अवतार थे, अन्यथा वे ये सब दुष्कर कार्य कैसे कर सकते थे? हिन्दू उन्हें ईश्वर का अवतार मानकर पूजते है। भारतीयो के मतानुसार वे ईश्वर के सातवे अवतार है।

सेतु-निर्माण के समय वानरों ने पर्वत-खण्ड उखाड़-उखाड़-कर समुद्र में स्थापित कर दिये और उन्हें विशाल वृक्षों व शिलाओं से आच्छादित कर एक प्रचण्ड सेतु बात-की-बात में निर्माण कर लिया। कहा जाता है कि एक छोटी सी गिलहरी भी वालुकाराशि में लोट-लोटकर उस सेतु पर दौड़ती और अपना शरीर झाड़कर कुछ सिकताकण वहाँ बिखेर देती। इस प्रकार मिट्टी ला-लाकर वह भी अपनी लघु शक्ति के अनुसार उस बृहत् सेतु के निर्माणकार्य में राम की सहायता कर रही थी। वानरगण उसका यह कार्य देखकर हँसने लगे। वे तो विशालकाय पर्वत-खण्डों, विस्तृत वन-प्रदेशों और बालुका-राशि को उठा-उठाकर ला रहे थे इसलिये बालू में लोट-लोटकर संचित किये हुए एक-दो मिट्टी के कणों को विशाल सेतु पर झाड़ती हुई उस गिल-हरी का वे उपहास करने लगे। पर जब राम ने गिलहरी के इस उद्यम को व वानरों के उपहास को देखा तो वे बोले, "इस अल्पकाय गिलहरी का मंगल हो। यह प्राणपण से अपनी समस्त शक्ति जुटाकर काम कर रही है इसलिये वह श्रेष्ठ से श्रेष्ठ वानर से अणु-मात्र भी न्यून नहीं है।" यह कहकर उन्होंने उस गिलहरी की पीठ स्नेहपूर्वक अपने हाथों से थपथपायी और आज भी राम की उन उँगलियों के चिह्न गिलहरी की पीठ पर दृष्टिगोचर होते हैं।

सेतु-निर्माण-कार्य पूर्ण हो जाने पर राम और उनके अनुज लक्ष्मण द्वारा संचालित समस्त वानर-वाहिनी ने सागर पार कर लंका में प्रवेश किया। कई मास तक घमासान युद्ध और भीषण रक्तपात चलता रहा। अन्त में विजय-श्री राम के हाथ लगी, राक्षस-राज रावण युद्ध में काम आया और उसकी राजधानी व

उसके स्वर्णनिर्मित राज-प्रासादो पर राम का आधिपत्य हो गया। आज भी जब मै भारत के हृदय-प्रदेश मे स्थित सुदूर ग्रामो मे सरलहृदय ग्रामीणो से यह कहता हूँ कि मैने लका का भ्रमण किया है तो वे कह उठते है "अहा! रामायण मे लिखा है कि वहाँ सोने के महल है।" अस्तु।

रावण के अनुज विभीषण की सहायता के प्रतिदान-स्वरूप स्वर्णमयी लका प्रदान कर राम ने उसे राज-सिहासन पर आरोहित किया।

तदनन्तर राम ने लक्ष्मण और सीता सहित लका से प्रस्थान किया। किन्तु इसी समय उनके साथियो और अनुयायियो मे एक असतोष की लहर दौड पडी। लोग सीता की पवित्रता पर सन्देह करने लगे। शनै शनै एक सामूहिक आवाज उठी, "परीक्षा! परीक्षा!! सीता ने अपनी पवित्रता की परीक्षा नही दी है।" राम को यह असह्य था। वे बोले, "सीता स्वय पातिव्रत्य-धर्म की प्रतिमूर्ति है उनकी परीक्षा कैसी?" पर लोग नही माने वे अपनी बात पर अटल रहे। "हमे सीता की पवित्रता का प्रमाण चाहिये हम परीक्षा चाहते है।" राम को जनमत के सामने झुकना पडा। निदान एक प्रचण्ड यज्ञाग्नि प्रज्वलित की गई और सीता को उसमे प्रवेश करने की आज्ञा हुई। राम शोक से मुह्यमान हो रहे थे उन्हे आशका हो रही थी कि अब आमरण सीता का वियोग सहन करना पडेगा। किन्तु दूसरे ही क्षण सब ने विस्मित नयनो से देखा कि स्वय अग्निदेव प्रकट हो गये है और उनके शीर्षस्थित सिहासन पर वैदेही विराजमान है। अब सभी सतुष्ट हो गये और चारो ओर आनन्दोत्सव मनाया गया।

राम ने जब वनवास के लिये अयोध्या का परित्याग किया

था। तब उनके अनुज कैकयी-सुत भरत अपने ननिहाल मे थे। जब उन्हे अयोध्या लौटने पर राम के वन-गमन का दुखद सवाद ज्ञात हुआ, तो वे अविलम्ब अरण्य मे राम से मिलने निकल पडे। उन्होने राम से पिता के निधन का हृदयविदारक संवाद कहा और उन्हे लौटकर सिहासनासीन होने की प्रार्थना की। किन्तु राम सहमत न हुए। उन्होने भरत को लौटकर धर्मपूर्वक शासन करने का उपदेश दिया। भरत ने ज्येष्ठ भ्राता के प्रति अपने परम अनुराग और भक्ति-भाव के प्रतीक-स्वरूप राम की पादुकाये सिहासन पर रख दी और स्वय राम के प्रतिनिधि के रूप मे राज-कार्य सँभालने लगे। जब राम अयोध्या लौट आये तो पुरजनो की अनुरोधपूर्ण अभ्यर्थना को स्वीकृत कर सिहासन पर आरूढ हुए।

राज्याभिषेक के अवसर पर राम ने यथाविधान सब व्रत ग्रहण किये जो प्राचीन भारत मे प्रजा-पालन व लोक-कल्याण के लिए आवश्यक समझे जाते थे। उस युग मे राजा प्रजा का सेवक व दास समझा जाता था, और उसे सदैव लोकमत का आदर करना पडता था उसके सामने झुकना पडता था।

राम पुत्र की भाँति प्रजा का पालन करने लगे। इस प्रकार कुछ ही वर्ष उन्होने सीता सहित सुखपूर्वक व्यतीत किये थे कि एक लोकापवाद की लहर पुन उत्थित हुई। गुप्तचरो ने राम को सूचना दी कि प्रजा सीता की पवित्रता मे सदेह करती है, क्योकि सीता का एक राक्षस ने हरण कर लिया था और वे सागर पार उसकी नगरी मे रही है। उन्हे सीता की अग्नि-परीक्षा से सतोष न था। वे चाहते थे——सब के सामने एक नई परीक्षा ली जाय, और नही तो सीता देश से निर्वासित कर दी जायँ।

जनता के संतोष-विधानार्थ राम ने कठोर हृदय कर अपनी प्राणप्रिय सीता को भी देश से निर्वासित होने की आज्ञा दे दी। अयोध्या की महारानी सीता परित्यक्ता होकर विलाप करती हुई विपिन मे विचर रही थी। रोरुद्यमाना मैथिली पर महर्षि वाल्मीकि की दृष्टि पडी। उसकी करुण कथा सुनकर वे उसे अपने आश्रम मे ले आये। सीता आसन्नप्रसवा थी और कालान्तर मे उन्होंने दो यमज पुत्रो को जन्म दिया। आदि-कवि वाल्मीकि ने उन बालको को उनका यथार्थ परिचय कभी नही दिया। उपयुक्त वय प्राप्त होने पर महर्षि ने उन्हे ब्रह्मचर्य-व्रत ग्रहण करवा यथा-विधान शिक्षा देनी प्रारम्भ की।

इन्ही दिनो महर्षि ने रामायण महाकाव्य की रचना की और उसे सुर-ताल से सयोजित कर एक रूपक तैयार किया।

भारत मे नाटक एक अत्यन्त पवित्र वस्तु समझी जाती थी। नाद व सगीत की साधना धर्म-साधना मानी जाती थी। लोगो की धारणा थी कि कोई भी गीत चाहे वह प्रेम-सगीत हो या इतर-विषयक - यदि तन्मयतापूर्वक गाया जाय तो उससे अवश्य मुक्ति-लाभ होगा। जो फल-निष्पत्ति ध्यान द्वारा प्राप्त होती है वही सगीत की साधना से भी प्राप्त है।

वाल्मीकि ने रामायण पर एक रूपक आधारित किया और राम के दोनो पुत्रो को उसे स्वर-तालपूर्वक गाना और उसका अभिनय करना सिखाया।

भारत के प्राचीन नृपगण अश्वमेधादि बड़े बडे यज्ञ किया करते थे, राम ने भी तदनुसार अश्वमेध करने का सकल्प किया। किन्तु भारत मे किसी गृहस्थ को पत्नी बिना कोई भी धर्मानुष्ठान करने का अधिकार नही है। पत्नी को भारत मे

सहधर्मिणी का गौरव प्राप्त है। गृहस्थ को शत शत धार्मिक अनुष्ठान करने होते हैं, किन्तु जब तक उसकी सहधर्मिणी उसके साथ बैठकर उनमे योग नही देती, तब तक कोई अनुष्ठान विधिपूर्वक अनुष्ठित नही माना जाता।

सीता को तो देश-निर्वासन की आज्ञा दी जा चुकी थी। इसलिये लोगो ने राम से पुनः विवाह कर लेने की प्रार्थना की किन्तु राम पुरुषोत्तम और एकपत्नी-व्रतधारी थे। इस समय वे जीवन मे पहिली बार जनमत के विरोध मे खड़े हुए। वे बोले, "यह असम्भव है। मेरा जीवन तो सीता को समर्पित हो चुका है।" इसलिये शास्त्र-विधि का आदर रखने के लिये सीता के स्थान पर, उनकी प्रतिनिधि-स्वरूप एक स्वर्ण-प्रतिमा आसीन कर दी गई। इस महोत्सव मे जनता मे धर्मभाव व आनदवर्धन के लिये नाटक व संगीतादि का भी आयोजन किया गया। राम के दोनो अज्ञात पुत्र लव और कुश को साथ लेकर महाकवि महर्षि वाल्मीकि भी इस अवसर पर आये थे। सभास्थल मे एक रगमञ्च शीघ्र ही निर्मित कर लिया गया था और अन्य आवश्यक आयोजन भी पूर्ण कर लिये गये। सभा-मण्डप मे राम और उनके भ्रातृगण, अमात्य-वर्ग व अयोध्या की सम्पूर्ण जनता उपस्थित थी। वाल्मीकि के निर्देशानुसार लव और कुश ने मधुर स्वरो मे रामायण का गान और अभिनय प्रारम्भ किया। सारा जन-समुदाय उनकी वाणी और सुन्दरता पर मुग्ध हो गया। राम तो शोकोन्मत्त हो रहे थे और जब वैदेही-वनवास का प्रसग आया तो वे विह्वल व किकर्तव्यविमूढ हो उठ खडे हुए। तब महर्षि ने उनसे कहा, "राजन्, शोकार्त न होइये, मैं इसी क्षण सीता को आपके समक्ष उपस्थित कर देता हूँ।"

तब सीता सभामञ्च पर लाई गई और राम अपनी परित्यक्ता पत्नी को पुन पाकर अतीव हर्षित हुए। किन्तु इसी क्षण वही पुराना असतोष फिर जनता मे प्रकट हो गया। 'परीक्षा, परीक्षा' की आवाज आने लगी। दीना सीता पुन पुन अपने शुद्ध चरित्र पर किये गये इस कठोर, अपमान-पूर्ण सदेह से इतनी आहत और कातर हो गई थी कि अब यह उनके लिये असह्य हो गया। वे अपनी पवित्रता का साक्ष्य देने के लिये कातर स्वर मे देवगणो की प्रार्थना करने लगी, और इसी समय पृथ्वी विभक्त हो गई, सीता ने उच्च स्वर मे कहा "यह लो मेरी परीक्षा" और सदा के लिये उस विवर मे प्रविष्ट हो गई। पृथ्वी-तनया सीता सदा के लिये अपनी जननी की गोद मे सो गई। इस दुखान्त घटना से लोग अवसन्न हो गये और राम शोक से मुह्यमान हो गये।

सीता के अन्तर्धान के कुछ दिन पश्चात् देवताओ का एक दूत राम के पास आकर बोला, "प्रभो! पृथ्वी पर आपका कार्य अब पूर्ण हो गया है, इसलिये आप स्वधाम वैकुण्ठ पधारे।" यह सवाद सुनकर राम की निज-स्वरूप-स्मृति जागृत हो गई। अयोध्या की समीप-वर्तिनी सरिद्वरा सरयू के जल मे देह-विसर्जन कर राम वैकुण्ठ मे सीता से मिल गये।

यह है भारत का महान् आदिकाव्य। राम और सीता भारतीय राष्ट्र के आदर्श है। सभी बालक-बालिकाये विशेषत कुमारियाँ सीता की पूजा करती है। भारतीय नारी की उच्चतम महत्वाकाक्षा यही होती है कि वह सीता के समान शुद्ध, पति-परायणा और सर्वसहिष्णु सर्वसहा बने। उन महान् पुरुषो के चरित्र का अध्ययन करने पर आपको सहज ही प्रतीत होने

लगता है कि भारतीय और पाश्चात्य आदर्शों में कितना महान् अन्तर है। भारतीय राष्ट्र और समाज के लिये सीता सहिष्णुता के उच्चतम आदर्श के रूप में है। पश्चिम कहता है, "कर्म करो कर्म द्वारा अपनी शक्ति दिखाओ।" भारत कहता है, "सहिष्णुता द्वारा अपनी शक्ति दिखाओ दुख-कष्टों को सहन करना सीखो।" मनुष्य कितने अधिक भौतिक पदार्थों विषयों का स्वामी बन सकता है, इस समस्या की पूर्ति पश्चिम ने की है। किन्तु मनुष्य में कितना त्याग करने की क्षमता है इस प्रश्न का उत्तर भारत ने दिया है। आप देखते हैं दोनों आदर्श ही परस्पर-विरोधी भावों की चरम सीमा है। सीता भारतीय आदर्श भारतीय भाव की प्रतिनिधि है मूर्तिमती भारत-माता है। सीता वास्तव में जन्मी थी या नही, रामायण की कथा किसी ऐतिहासिक तथ्य पर आधारित है या कपोल-कल्पित इन प्रश्नों पर हमे विचार नही करना है। किन्तु कम से कम इतना तो सत्य है कि सहस्रों वर्षों से सीता का चरित्र भारतीय राष्ट्र का आदर्श रहा है। ऐसी अन्य कोई पौराणिक कथा नहीं है जिसने सीता के चरित्र की भाँति पूरे भारतीय राष्ट्र को आच्छादित और प्रभावित किया हो उसके जीवन मे इतनी गहराई तक प्रवेश किया हो जाति के नस नस मे, उसके रक्त की एक एक बूद मे इतनी प्रवाहित हुई हो। भारतवर्ष मे जो कुछ पवित्र है, विशुद्ध है, जो कुछ पावन है उस सबका सीता शब्द से बोध हो जाता है। नारी मे जो नारीजनोचित गुण माने गये है सीता शब्द उन सबका परिचायक है। इसीलिये जब ब्राह्मण किसी कुल-वधू को आशीर्वाद देते हैं तो कहते है 'सीता बनो।' जब किसी बालिका को आशीर्वाद देते है तो कहते

है 'सीता बनो।' वे सब सीता की सन्तान है जीवन मे उनका एकमेव प्रयत्न यही होता है कि वे सीता बने सीता-सी शुद्ध, धीर और सर्वसहा, सीता-सी पतिपरायणा और पतिव्रता बने। जीवन मे सीता ने इतने कष्ट सहे, इतनी वेदनाये सही किन्तु राम के विरुद्ध उनके मुँह से एक कठोर शब्द तक न निकला, हृदय से एक आह तक न निकली। वे उसे अपना कर्तव्य जानकर सहती जाती है अपने जीवन के करुण-नाटक मे धैर्यपूर्वक अभिनय करती रहती है। सीता का अरण्य-निर्वासन! जरा सोचिये तो, कितना घोर अन्यायपूर्ण, अविचारपूर्ण कार्य था यह! पर सीता ने यह भी सह लिया उनके हृदय मे लेशमात्र भी कटुता उत्पन्न नही हुई। यह तितिक्षा ही भारतीय आदर्श है। भगवान बुद्ध ने कहा है, "यदि कोई तुम्हे आहत करता है, और तुम उसे प्रतिकार मे आहत करने के लिये अपना हाथ उठाते हो, तो इससे तुम्हारे घाव को तो आराम नही होगा, हाँ, ससार के पापो मे एक वृद्धि अवश्य हो जायगी।" सीता इस भारतीय आदर्श की सच्ची प्रतिनिधि है। अत्याचारो के प्रतिशोध का विचार तक उनके हृदय मे नही आया।

कौन जानता है इन दोनो आदर्शो मे कौन सत्य और उच्च है पाश्चात्यो की यह आपात-प्रतीयमान शक्ति और चमक-दमक, या प्राच्यो की कष्ट-सहिष्णुता, क्षमा और तितिक्षा?

पश्चिम कहता है- "हम दुःखो का प्रतिकार कर अपनी शक्ति से उन्हे विजित कर उनका नाश करते है।" भारत कहता है, "हम भी दुःखो का नाश करते हैं, किन्तु उनके प्रतिकार से नही उन्हे सहन करने की क्षमता उत्पन्न करने से, और धीरे

धीरे यही दु ख और कष्ट हमारे लिये आनद की वस्तु बन जाते हैं।" शायद दोनों ही आदर्श महान् है पर कौन जानता है अन्ततोगत्वा कौन सा आदर्श जीवित रह सकेगा किस आदर्श की जय होगी? कौन जानता है किस आदर्श से मानवजाति का अधिकतर यथार्थ कल्याण सम्पादित हो सकेगा? किसे ज्ञात है, कौन सा आदर्श मनुष्य की पाशविकता को निर्वीर्य कर उस पर विजय पा सकेगा? सहिष्णुता, क्षमा और तितिक्षा, अथवा क्रिया-शीलता, शक्ति एव प्रतिकार?

और इसलिये हमे परस्पर के आदर्श को नष्ट करने की ये घृणित चेष्टाये तो छोड देनी चाहिये। हम दोनो का लक्ष्य एक ही है मानव-दु ख-निवारण, दु खो का क्षय और नाश। आप अपनी प्रणाली के अनुसार कार्य करे और हमे अपने अनुसार करने दे। किसी भी आदर्श, प्रणाली या मत को उडा देने से काम नही चलेगा। मैं पश्चिम से यह नही कह रहा हूँ कि तुम हमारा मार्ग अपना लो। कभी नही। लक्ष्य एक है किन्तु साधन-मार्ग सदैव ही भिन्न रहेगे। और इसलिये, भारतीयो के आदर्श तथा सस्कृति का यह ज्ञान प्राप्त करने पर मुझे आशा है, आप भारत को सम्बोधन कर कहेगे, "हम जानते है—हम दोनो का लक्ष्य एक ही है, और इस लक्ष्य तक पहुँचने के हमारे मार्ग भी समान रूप से उपयोगी है, इसलिये बन्धुओ, तुम अपने आदर्श का अनुकरण करो, अपने लक्ष्य पर चलो। तुम अपने साधनपथ पर प्रस्थान करो ईश्वर तुम्हारा कल्याण करे।" इस जीवन मे पूर्व और पश्चिम दोनो को मेरा यही सदेश है कि विभिन्न आदर्शो पर वृथा विवाद न करो तुम्हारे आदर्श केवल भिन्न प्रतीयमान मात्र होते है—वास्तव मे तो वे एक ही है। और

इसलिये जीवन के इन ऊँचे-नीचे टेढ़े-मेढ़े रास्तों, जीवन की इस चक्करदार भूलभुलैया में मार्ग क्रमण करते हुए परस्पर मंगल कामना करते हुए परस्पर का अभिवादन कर कहे, "ईश्वर तुम्हारी लक्ष्यसिद्धि में सहायक हो।"

महाभारत

(कैलिफोर्निया के अन्तर्गत पॅसाडेना की 'शेक्सपियर सभा' में दिया हुआ भाषण- ता. १ फरवरी १९०० ई ।)

जिस दूसरे महाकाव्य के सम्बन्ध मे मै आज आपके सम्मुख बोलनेवाला हूँ, वह महाभारत है । इसमे दुष्यन्त और शकुन्तला के पुत्र राजा भरत के वश का आख्यान वर्णित है । महान् का अर्थ होता है बडा अर्थात् गौरवसम्पन्न, और भारत का अर्थ है भरत के वशज वह भरत जिसके नाम से हमारे देश का नामकरण भारत हुआ है । इसलिये महा-भारत शब्द का अर्थ महान् भारत देश, या भरत के महान् वशजो का आख्यान होता है । कुरुओ का प्राचीन राज्य ही इस महाकाव्य की रग-भूमि है, और कुरु-पाञ्चालो का महासग्राम ही इस कथा की भित्ति है । अतएव युद्ध-प्रभावित क्षेत्र का विस्तार अधिक नही है। यह महाकाव्य भारत मे सर्वाधिक लोकप्रिय है, और भारतीय जीवन पर इसका उतना ही प्रभाव पडा है जितना कि यूनान देश मे होमर-प्रणीत काव्य का। ज्यो ज्यो युगो ने करवटे बदली, मूल महाभारत के कलेवर मे भी वृद्धि होती गई, और अन्त मे उसके श्लोको की सख्या एक लाख तक पहुँच गई । नानाविध आख्यायिका-उपाख्यान, पौराणिक गाथाये, दार्शनिक निबन्ध, इतिहास और विविध प्रकार के विविध विषयो पर विचार इत्यादि, समय समय पर उसमे इतने अधिक सयोजित कर दिये गये है कि आज यह एक विशाल, प्रचण्डकाय महाग्रन्थ बन गया है, परन्तु मूल कथा की रूपरेखा इन सब अवान्तर प्रसगो मे भी सुरक्षित रखी गई है ।

महाभारत की मूल कथा का विषय है—भारत के विशाल साम्राज्य के आधिपत्य के लिये एक ही वंश की दो शाखाओं-कौरवो व पाण्डवो का युद्ध।

आर्यगण छोटे छोटे दल बनाकर भारत मे आये। धीरे धीरे आर्य-जाति की ये विभिन्न शाखाये समूचे देश मे इतस्तत फैलने लगी, और वे यहाँ के एकमेव प्रतिद्वन्द्वी-विहीन शासक बन गये, और अन्त मे एक ही वंश की दो शाखाओ मे साम्राज्य-लाभ के लिये यह सघर्ष उठ खडा हुआ। आपमे से जिन्होने गीता का अध्ययन किया है वे जानते है कि उसका प्रारम्भ दो युद्धोद्यत सेनाओ द्वारा अधिकृत युद्धक्षेत्र के वर्णन से ही होता है। यही वह महाभारत का सग्राम है।

कुरुवशीय महाराज विचित्रवीर्य के दो पुत्र थे, ज्येष्ठ धृत-राष्ट्र और कनिष्ठ पाण्डु। धृतराष्ट्र जन्मान्ध थे। भारतीय स्मृतिशास्त्र के विधानानुसार अध, खञ्ज, विकलांग, क्षयी या अन्य किसी प्रकार स्थायी-व्याधि-युक्त व्यक्ति पैतृक धन का उत्तराधिकारी नही बन सकता, उसे केवल अपने निर्वाह-योग्य खर्च पाने का ही अधिकार है। इसलिये धृतराष्ट्र ज्येष्ठ होने पर भी सिंहासन प्राप्त न कर सके और पाण्डु ही सम्राट अभि-षिक्त हुए। धृतराष्ट्र के सौ और पाण्डु के केवल पॉच पुत्र हुए। पाण्डु के यौवन-काल मे ही स्वर्गवास के पश्चात् धृतराष्ट्र कुरुदेश के राजा बने, और उन्होने अपने पुत्रों के साथ ही पाण्डु के पुत्रो का लालन-पालन किया। पुत्रगण जब वय प्राप्त हुए तो महान् धनुर्धारी विप्र द्रोणाचार्य को उनकी शिक्षा-दीक्षा का भार सौपा गया, और क्षत्रियोचित अस्त्रविद्या व धर्म-शास्त्रो मे वे पारगत हो गये। राजपुत्रो की शिक्षा समाप्त होने पर धृतराष्ट्र

ने पाण्डवो मे ज्येष्ठ युधिष्ठिर को युवराज के पद पर अभिषिक्त किया। युधिष्ठिर की निष्ठा व सदाचार, तथा उनके भ्रातृवृन्द का शौर्य-वीय और ज्येष्ठ भ्राता के प्रति असीम भक्ति देखकर अन्ध राजा के पुत्रो के हृदय मे द्वेषाग्नि प्रज्वलित हो गई, और उनमे से ज्येष्ठ दुर्योधन की कुटिलता व कौशल से पाँचो पाण्डु-पुत्रो को एक धर्म-महोत्सव मे सम्मिलित होने के वहाने, वारणावत नगर मे आने के लिये छलपूर्वक राजी कर लिया गया। वहाँ दुर्योधन की आज्ञानुसार सन, लाख, तेल, घृत आदि प्रज्वलनशील द्रव्यो से निर्मित एक प्रासाद में उनके निवास की व्यवस्था की गई और कुछ दिनो वाद एक रात को उस जतुगृह को चुपचाप आग लगा दी गई। किन्तु धृतराष्ट्र के वैमात्रेय वन्धु धर्मात्मा विदुर को दुर्योधन व उसके अनुचरो के दुष्ट हेतु का पता लग गया था और उन्होने पाण्डवो को इस षडयन्त्र से सावधान रहने की सूचना दे दी थी। अत. वे आत्मरक्षणार्थ चुपचाप उस जलते हुए गृह से निकल भागे। कौरवो ने लाक्षागृह को जलकर भस्म होते देख सतोष की साँस ली, और सोचने लगे कि इतने दिनो वाद अव मार्ग के सब कटक दूर हो गये। उन्होने राज्य अपने हाथो मे ले लिया। पाँचो पाण्डव अपनी जननी कुन्ती को साथ ले वन-वन भटकने लगे। वे भिक्षा माँगकर जीवन-यापन करते, और अपने को ब्रह्मचारी ब्राह्मण वताकर वेष वदले वे घूमते रहे। वन मे उन्हे अनेकानेक कष्टो का सामना करना पडा, उन्होने अनेक रोमाञ्चकारी साहसपूर्ण कृत्य किये। अपने साहस, शौर्य-वीर्य और धैर्य से वे सव विघ्नो पर विजय पाते गये। इस प्रकार जीवन व्यतीत करते करते एक दिन उन्हे समीप-वर्ती पाञ्चाल देश की राजकन्या के स्वयवर की वार्ता ज्ञात हुई।

गत रात्रि मैंने इस स्वयवर-प्रथा का उल्लेख किया था। इन स्वयवरो के अवसर पर विभिन्नदेशीय राजकुमारगण आमन्त्रित किये जाते थे और राजकन्या उनमे से किसी एक को पुष्पमाला अर्पित कर अपना पति निर्वाचित कर लेती थी। अपने आगे आगे भाट और चारण लेकर, विवाहार्थी राजकुमारी हाथ मे पुष्पमाला ले राजकुमार के समीप जाती और उन लोगो के मुख से राजकुमार की कुल-मर्यादा, रणकौशल आदि की प्रशसा सुनती। फिर वह अपनी अभिलाषा, वह पुष्प-हार अर्पित कर प्रकट करती। इसके बाद वह समारोह विवाहोत्सव का रूप ले लेता था।

महाराज द्रुपद पाञ्चाल देश के प्रबल अधिपति थे और उनकी कन्या द्रौपदी के लावण्य, गुण और शील की ख्याति देश-देशान्तर मे फैली थी। उसी के स्वयवर का सवाद पाण्डुपुत्रो को मिला।

स्वयवर मे सदैव कोई-न-कोई प्रण रखा जाता था। किसी विशेष प्रकार के अस्त्र-कौशल और शौर्य-प्रदर्शन की शर्त रखी जाती थी और उद्वहनाभिलाषी कुमार को अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करनी पडती थी। इस अवसर पर एक अत्युच्च स्थान पर एक कृत्रिम मत्स्य लक्ष्य के रूप मे लटकाया गया, मत्स्य के नीचे एक सतत गतिमान चक्र था जिसके केन्द्र मे एक छिद्र था, और उसके नीचे भूमि पर एक जलपात्र रखा गया। अब जलपात्र मे मत्स्य का प्रतिविम्ब देख गतिमान चक्र के मध्य-छिद्र मे से तीर छोडकर मत्स्य के चक्षु विद्ध करने मे जो सफल होगा, उसी से द्रुपद-सुता का विवाह करने की पाञ्चालराज ने प्रतिज्ञा की थी। राजकुमारी से विवाह-कामना करनेवाले एकत्र राजपुत्रगण

प्राणपण से लक्ष्य-वेध करने का प्रयत्न करने लगे, किन्तु कोई सफल न हुआ।

भारतवर्ष मे वर्ण-व्यवस्था प्रचलित है, कुल-पुरोहित अर्थात् ब्राह्मणो का वर्ण श्रेष्ठ माना जाता है, उनके नीचे क्रम से क्षत्रियो राजाओ और योद्धाओ, वैश्यो वाणिज्य-व्यवसाय का अवलम्बन करनेवालो, और शूद्रो या सेवको की जातियाँ है। यह स्पष्ट ही है कि राजकुमारी द्रौपदी, द्वितीय वर्ण अर्थात् क्षत्रिय कुल मे जन्म पाई थी।

जब सब राजकुमार लक्ष्य वेधने मे असफल हो गये, तो महाराज द्रुपद क्षुब्ध हो सभामण्डप मे खडे हो गये और बोले, "क्षत्रिय कुमार मेरा प्रण पूर्ण न कर सके, अब अन्य जातियो के कुमार प्रतिस्पर्धा मे सम्मिलित हो सकते है। ब्राह्मण कुमार हो, या वैश्य अथवा शूद्रकुलोत्पन्न हो जो लक्ष्य-वेध कर देगा वही द्रौपदी का स्वामी होगा।"

पाँचो पाण्डव भी ब्राह्मणो मे बैठे हुए थे। अर्जुन धनुर्विद्या मे पारगत था। वह उठकर आगे बढा। स्वभावतया ब्राह्मण शान्त और नम्रस्वभाव होते है। शास्त्रो के आदेशानुसार उनके लिये शस्त्र चलाना और साहसपूर्ण कृत्य करना निषिद्ध है। उनका सारा जीवन चिन्तन और अध्ययन, ध्यान-धारणा तथा सयम और इन्द्रिय-निग्रह मे व्यतीत होता है। इससे सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि वे कितने सयत, नम्र और शान्त होते है। जब उन्होने अर्जुन को उठते देखा, तो उन्हे भय लगा कि उसके इस कार्य से वे सब क्षत्रियो के क्रोधानल मे नष्ट हो जायेगे। इसलिये उन्होने अर्जुन को अपने इस निश्चय से विचलित करने का प्रयत्न किया। किन्तु अर्जुन योद्धा था, उसने उनकी एक न

सुनी। उसने धनुष हाथ मे उठाया, सहज ही मे उसकी प्रत्यञ्चा चढा ली, और चक्र के बीच मे से तीर छोडकर ठीक मत्स्य की आँख पर निशाना लगा दिया।

अब तो चारो ओर हर्ष-सरिता उमड पड़ी। राजनन्दिनी द्रौपदी ने विजयी धनुर्धारी के समीप आ, उसके वक्ष को उस सुन्दर पुष्पमाला से अलकृत कर दिया। किन्तु उपस्थित क्षत्रिय-कुमारो की सभा मे एक तुमुल कोलाहल मच गया। वे यह नही सहन कर सके कि एक दरिद्र ब्राह्मण उनके सामने विजयी होकर एक क्षत्रिय राजकुमारी से पाणिग्रहण कर ले। वे अर्जुन से युद्ध कर बलपूर्वक द्रौपदी को छीन लेना चाहते थे। पाँचो भाइयो ने सकल राजपुत्र-वृन्द से घमासान युद्ध किया और विजयनाद करते हुए नव-वधू को घर ले आये।

ब्राह्मण भिक्षा-वृत्ति द्वारा निर्वाह करते है। ब्राह्मण के वेष मे निवास करनेवाले पाण्डव भी घर से निकल भिक्षाटन द्वारा जो प्राप्त कर लाते, उसे माता कुन्ती के सुपुर्द कर देते, और वे ही उसका विभाजन करती।

पाँचो भाई राजकुमारी को साथ ले माता कुन्ती के पास कुटी पर लौट आये। वे हर्षोत्फुल्ल हो उसे पुकारने लगे, "माताजी, माताजी, आज हम एक अद्भुत भिक्षा घर लाये है।" माँ भीतर से ही बोली, "वत्स, पाँचो मिलकर उसका उपभोग करो।" जब कुन्ती ने राजकुमारी को देखा तो घबराकर बोली, "अरे! यह क्या, मैने यह क्या कह दिया? यह तो एक कन्या है!" किन्तु अब क्या हो सकता था? जो कुछ माँ ने कह दिया, वह असत्य नही हो सकता था। माँ की आज्ञा थी उसका पालन करना पुत्रो का धर्म था। उसने अब तक मिथ्या

भाषण नही किया था, इसलिये उसके ये शब्द कैसे मिथ्या किये जा सकते थे? इसलिये द्रौपदी पाँचो भाइयो की पत्नी बनकर रही।

यह आपको भली-भाँति ज्ञात है कि हरएक जाति के विकास का एक इतिहास होता है और उसमे भिन्न भिन्न अवस्थाये होती है। इस महाग्रथ की पार्श्व-भूमि मे हमे उस अतीत की अति पुरातन काल की एक झलक दिखती है। इस महान् काव्य के लेखक ने पाँचो भाइयो का एक स्त्री से पाणिग्रहण होने की घटना का तो उल्लेख अवश्य किया है, किन्तु उस पर एक पर्दा डालना चाहा है, उसके लिये एक बहाना एक कारण खोजने का प्रयत्न किया है। वह कहता है यह माँ की आज्ञा थी, जो पुत्रो को शिरोधार्य करनी पडी, इस विचित्र विवाह के लिये माँ की सम्मति प्राप्त थी, इत्यादि। किन्तु आप जानते है हरएक राष्ट्र के विकास-क्रम मे एक ऐसी अवस्था अवश्य रही है जिसमे बहु-भर्तृत्व को मान्यता प्रदान की गई थी, जब एक ही परिवार के सब भ्रातृगण मिलकर एक ही स्त्री के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर सकते थे। यह घटना उसी बहुभर्तृत्व-युग की एक झलक है।

इधर, राजकन्या का सहोदर भ्राता अत्यन्त व्यग्र और चिन्तित हो रहा था। उसने सोचा, "ये व्यक्ति कौन है, मेरी सहोदरा भगिनी से विवाह-सूत्र मे बद्ध होनेवाला यह पुरुष किस जाति का है? उनके पास न रथ है, न घोडे है, न और कुछ। उनके पास कोई वाहन भी नही है, वे सब पैदल ही यात्रा करते है।" यही सब जानने के लिये वह दूर से उनका पीछा करने लगा, और रात को उनका वार्तालाप सुनकर उसे पूर्ण विश्वास

हो गया कि वे क्षत्रिय ही हैं। जब महाराज द्रुपद को यह ज्ञात हुआ तो वे अत्यधिक प्रसन्न हुए।

पहले इस विवाह का घोर विरोध हुआ, परन्तु महर्षि व्यास ने यह स्पष्ट कर दिया कि ये राजकुमार इस प्रकार विवाह कर सकते हैं। महाराज द्रुपद को इस विवाह से सहमत होना पड़ा, और द्रौपदी पाँचों भाइयों के साथ विवाहित जीवन व्यतीत करने लगी।

अब पाण्डव विघ्न-बाधारहित, शान्त और सुखी जीवन व्यतीत करने लगे, उनकी शक्ति भी उत्तरोत्तर वृद्धिगत होती रही। दुर्योधन और उसके अनुचर उनका अन्त करने के लिये फिर कई प्रकार के षडयंत्र रचने लगे, किन्तु गुरुजनों की नेक और नीतिपूर्ण सलाह शिरोधार्य कर महाराज धृतराष्ट्र को उनसे सुलह करने के लिये बाध्य होना पड़ा। पुरजनों की तुमुल हर्षध्वनि के बीच महाराज धृतराष्ट्र ने उन्हें सादर राज्य का आधा हिस्सा प्रदान कर दिया। पाँचों पाण्डवों ने अपनी राजधानी बसाने के लिये इन्द्रप्रस्थ नामक एक सुन्दर नगर का निर्माण किया, और चारों ओर के माण्डलिकों को अपने आधीन कर अपने राज्य का विस्तार कर लिया। ज्येष्ठ बन्धु महाराज युधिष्ठिर ने स्वयं को प्राचीन भारत के सभी राजाओं का सम्राट घोषित करने के लिये राजसूय यज्ञ के आयोजन का निश्चय किया। इस प्रकार के यज्ञ में सभी पराजित राजाओं को यज्ञ-भूमि में नजराने लेकर आना पड़ता था, और फिर वे राज-भक्ति की शपथ ग्रहण कर, यज्ञ पूर्ण करने में सहयोग देते थे। श्रीकृष्ण भी इस समय तक उनके कुटुम्बी और मित्र बन चुके थे। उन्होंने आकर इस निश्चय की प्रशंसा की। किन्तु यज्ञ-पूर्ति में केवल एक ही बाधा

थी। जरासन्ध नामक एक राजा ने एक यज्ञ मे सौ राजाओ की आहुति प्रदान करने के हेतु छियासी राजाओ को अपने कारागार मे बन्द कर लिया था। श्रीकृष्ण ने जरासन्ध पर चढाई करने की सलाह दी। कृष्ण, भीम और अर्जुन ने जाकर उसे युद्ध के लिये ललकारा। उनका आह्वान स्वीकार कर उसने भीम के साथ मल्लयुद्ध किया और चौदह दिन के अनवरत युद्ध के बाद उससे पराजित हो गया। इस प्रकार वे राजागण कारा-मुक्त कर दिये गये।

अब चारो भाई अपनी विजय-वाहिनी लेकर चारो दिशाओ मे अपनी विजय-पताका फहराने निकले। सभी राजाओ ने महाराज युधिष्ठिर की अधीनता स्वीकार कर ली। लौटकर उन्होने, युद्धार्जित विपुल धन-राशि, यज्ञ मे व्यय करने के लिये ज्येष्ठ बन्धु के चरणो मे रख दी।

कारा-मुक्त राजाओ सहित भ्राताओ द्वारा विजित सभी नृपगण राजसूय यज्ञ मे सम्मिलित हुए और उन्होने महाराज युधिष्ठिर का सम्राटोचित सम्मान किया। महाराज धृतराष्ट्र और उनके पुत्रगण भी इस समारोह मे आमन्त्रित किये गये थे। यज्ञ समाप्त होने पर, महाराज युधिष्ठिर सम्राट-पद पर अभिषिक्त हुए, और वे चक्रवर्ती घोषित किये गये। इसी से महान् भावी संग्राम का बीजारोपण हुआ। दुर्योधन का हृदय महाराज युधिष्ठिर के असीम ऐश्वर्य, वैभव, सत्ता और अनन्त धनराशि को देखकर क्रोध व ईर्ष्या से जल-भुन गया। वह ईर्ष्यावश होकर अपनी कुटिलता और कौशल से पाँचो पाण्डवो के सर्वनाश की कामना करने लगा, क्योकि शक्ति और बाहुबल से उन्हे जीतना उसके सामर्थ्य के बाहर था। राजा युधिष्ठिर को द्यूत-क्रीडा प्रिय थी, और

कुसमय पर उन्हे दुर्योधन के कुयत्रणदाता व छद्मपूर्ण और कुटिल द्यूत-विद्या-विशारद शकुनि से खेलने का आह्वान किया गया। प्राचीन भारत मे जब कभी क्षत्रिय को युद्ध की चुनौती दी जाती थी तो उसे अपनी मान-रक्षार्थ सब क्षति सहकर वह चुनौती स्वीकार करनी पडती थी। और यदि द्यूत-क्रीडा का आह्वान मिलता तो उसे स्वीकार कर लेना ही गौरवरक्षा का एकमेव मार्ग था और उसे अस्वीकृत करना उपहास का पात्र बनना था। महाभारत मे महाराज युधिष्ठिर को 'धर्मराज' तथा सब सद्‌गुणो की प्रतिमा कहा गया है। परन्तु पूर्वोक्त कारण से राजर्षि होते हुए भी उन्हे उस चुनौती को स्वीकार करना पडा। शकुनि और उसके साथियो ने नकली पासे बनाये। युधिष्ठिर दॉव पर दॉव हारते गये, और क्षुब्ध, अधीर व दैवप्रेरित होकर वे खेलते ही गये और धीरे धीरे अपनी सारी सम्पत्ति और राजपाट को दॉव पर लगाकर हार गये। अब खेल के समाप्त होते होते, प्रतिस्पर्धी के पुनराह्वान से उत्तेजित होकर, उन्होने और कुछ पास न बचने पर, वारी बारी से पहले चारो भाइयो को, फिर खुद को और अन्त मे अनिन्दित द्रौपदी को भी दॉव पर लगा दिया——और उन्हे हार गये। इस प्रकार कौरवो के कुटिल चक्र मे फँसकर वे पूर्णतया उनके वशीभूत हो गये, वे अत्यन्त अपमानित किये गये और द्रौपदी के साथ भी कौरवो ने अमानुषिक दुर्व्यवहार किया। अन्धराजा के बचाव करने से ही वे अपनी खोई हुई स्वतत्रता प्राप्त कर सके, और उन्हे अपनी राजधानी मे लौटकर फिर से शासन-सूत्र ग्रहण करने की अनुमति मिली। दुर्योधन ने देखा यह तो बडी विपदा आ पडी, और वृद्ध पिता को बाध्य कर एक दॉव और खेल लेने की अनुमति मॉग ली, और यह निश्चित हुआ कि इसमे

जो हारेगे वे द्वादश वर्ष पर्यन्त वनवास स्वीकार करेगे, और एक वर्ष तक किसी शहर मे अज्ञात-वास करेगे, किन्तु यदि इस अन्तिम वर्ष मे उनके निवास-स्थान आदि का पता विजयी पक्ष को लग गया, तो विजित पक्ष को पुनः द्वादश वर्ष का वनवास और एक वर्ष का अज्ञातवास अगीकार करना पडेगा, और केवल इस अवधि की समाप्ति के पश्चात् ही उन्हे राज्य लौटाया जायगा।

विधिवशात् युधिष्ठिर यह भी बाजी हार गये, और पाँचों पाण्डवो ने द्रौपदी को साथ ले, निर्वासित गृहविहीन व्यक्तियो के समान वन का आश्रय लिया। बारह वर्ष तक वे गहन अरण्यो और गिरि-गह्वरो मे वास करते रहे। उन्होने इस अर्से मे कई धर्मपूर्ण व वीरोचित कृत्य किये, और दीर्घकाल तक तीर्थ-भ्रमण कर पवित्र क्षेत्रो का दर्शन करते रहे। महाभारत का यह अंश वनपर्व अत्यन्त मनोहारी व शिक्षाप्रद है और कितनी ही घटनाओ, आख्यायिकाओ व उपाख्यानो से परिपूर्ण है। इसमे प्राचीन भारत के धर्म और दर्शन सम्बन्धी अनेक उदात्त और सुन्दर कथाओ का सग्रह है। अनेक महर्षिगण पाँचो भाइयो को उनके दुःख और विपत्ति मे सान्त्वना देने के लिये आते थे, और इस दुःख के भार व वन के कष्टो को वे सरलता से सहन कर सके इसलिये उन्हे प्राचीन भारत की अपूर्व कथायें सुनाते थे। मै यहाँ उनमे से केवल एक ही कहानी कहूँगा।

अश्वपति नामक एक राजा थे। उनकी कन्या इतनी सुन्दर और सुशील थी कि उसका नाम ही सावित्री पड गया सावित्री जो कि हिन्दुओ के एक अति पावन स्तोत्र का नाम है। युवती होने पर, सावित्री के पिता ने उसे अपना पति निर्वाचित करने के

लिये कहा। प्राचीन भारतीय महिलाये, जैसा आपने देखा है, अत्यन्त स्वतत्र थी, और अपना भावी जीवन-साथी स्वय चुनती थी।

सावित्री ने पिता की प्रार्थना स्वीकृत कर ली और वह एक स्वर्णखचित रथ पर आरूढ हो, पिता द्वारा साथ दिये गये अनुचरो और वृद्ध मत्रियो सहित, विभिन्न राजदरबारो मे जा-जा, कई राजकुमारो से भेट करती रही, किन्तु उनमे से कोई भी उसका हृदय आकर्षित न कर सका। अन्त मे वे लोग तपोवन-स्थित एक पवित्र मुनि-कुटीर मे आये। प्राचीन भारत मे ऐसे कई वन पशु-पक्षियो के लिये सुरक्षित रख दिये जाते थे, और वहाँ पशु-हिसा निषिद्ध रहती थी। ये वनचर प्राणी सभी प्रकार से भयरहित हो जाते थे, यहाँ तक कि जलाशयो मे मछलियाँ भी मनुष्य की हथेली से खाद्यान्न ग्रहण कर लेती थी। हजारो वर्षो से वहाँ पर किसी ने उन्हे सताया या मारा नही था। वही सन्त और वृद्ध जाकर मृगो और विहगमो के बीच रहते थे। अपराधियो को भी वहाँ कोई भीति नही थी। जब मनुष्य जीवन से थक जाता, तो वह तपोवन मे चला जाता, और सतसमागम कर, धर्म-चर्चा और ध्यान-जप मे अपना शेष जीवन व्यतीत करता।

द्युमत्सेन नामक एक नृपति को उसकी वृद्धावस्था मे शत्रुओ ने पराजित कर, उसका राज-पाट छीन लिया था। बेचारा राजा इस अवस्था मे अपनी आँखे भी खो बैठा। मायूस और बेबस हो, इस वृद्ध, अन्ध राजा ने अपनी रानी और पुत्र को साथ ले जगल मे शरण ली, और कठोर व्रतोपवास मे अपना जीवन बिताने लगा। उसके पुत्र का नाम सत्यवान था।

दैवयोग से सावित्री सारी राजसभाओ मे जाने के बाद

इसी तपोवन मे आ गई। प्राचीन काल मे तपोवननिवासी ऋषियो और महात्माओ के लिये जन-मन मे इतनी श्रद्धा थी कि महान् से महान् राजा भी बिना महर्षियो के चरणों मे प्रणिपात किये और आशीर्वाद लिये उस ओर से नही निकलता था। भारत में एक चक्रवर्ती सम्राट भी, कन्द-मूल-फल खाकर, वल्कल धारण कर, किसी वन के एक कोने मे स्थित छोटी सी कुटिया मे रहनेवाले किसी ऋषि से अपने वश का जन्म मानने मे हर्ष और गौरव प्रतीत करता है। हम सब ऋषियो की सन्तान है। धर्म का इतना सम्मान और कहाँ हुआ है? यहाँ राजा भी तपोवन से गुजरते समय ऋषियो के चरणो मे मस्तक झुकाने को अपना सौभाग्य समझते आये है। वे यदि अश्वारोहित रहते है, तो नीचे उतरकर आश्रम की ओर नगे पैर जाने लगते है। यदि किसी रथ मे वे रहते है, तो तपोवन मे प्रवेश करते समय रथ और शस्त्रास्त्र पीछे ही छूट जाते है। कोई भी क्षत्रिय योद्धा उन पवित्र आश्रमो मे केवल शान्तिप्रिय, नम्र और धर्मपरायण नागरिक की भॉति ही जा सकता है अन्यथा नही।

सावित्री ने कुटी मे आकर राजतपस्वी सत्यवान के दर्शन किये, और मन ही मन उसे अपना हृदयेश बनाने का सकल्प कर लिया। राजसभाओ और राजप्रासादो के निवासी राजकुमार जिस सावित्री का मन मोहित न कर सके, उसी का हृदय आज वनवासी द्युमत्सेन के पुत्र सत्यवान ने चुरा लिया।

सावित्री लौटकर पितृगृह आ गई। पिता ने पूछा, "वत्से, बोलो, क्या कोई राजकुमार दिखा जिससे तुम विवाह करना चाहोगी?" लज्जा से रक्तकपोल हो सावित्री विनयपूर्वक बोली, "हॉ, पिताजी।"

"तो, उस राजकुमार का क्या नाम है?" "वे युवराज नही है, राजा द्युमत्सेन के पुत्र है जो अपना राज्य खो चुके है। वे एक राजपुत्र है, जो राज्य-विहीन है और आश्रम में, कंद-मूल-फल संग्रह कर, वनवासी मातापिताओ के साथ तपस्वियों का जीवन व्यतीत करते है।"

दैवयोग से महर्षि नारद भी उस समय वहीं उपस्थित थे। इसलिये राजा ने उनकी इस विषय पर सलाह ली। महर्षि ने बताया कि यह निर्वाचन अत्यन्त अशुभ और अनिष्टकारक होगा। राजा ने महर्षि से इसका कारण बताने का अनुरोध किया।

महर्षि नारद बोले, "राजन्, आज से एक साल में सत्यवान काल-कवलित हो जायगा।" राजा इस अनिष्ट की आशंका से भयग्रस्त हो सावित्री से बोले, "बेटी, सत्यवान का एक वर्ष मे ही देहावसान हो जायगा और तुम्हे वैधव्य की दारुण यातनाये सहनी पडेगी। जरा विचार करो, पुत्री, और अपना निश्चय त्याग दो। इस प्रकार के अल्पायु और आसन्नमृत्यु वर से तुम्हारा विवाह किसी हालत मे न होगा।" इस पर सावित्री ने उत्तर दिया, "कोई परवाह नही, पिताजी! आप मुझसे किसी अन्य पुरुष के साथ विवाह-बद्ध हो अपना मानसिक पावित्र्य नष्ट करने का आग्रह न कीजिये। मैं साहसी और धर्मपरायण सत्यवान से प्रेम करती हूँ, और उन्हे अपने मन ही मन वरण कर चुकी हूँ। आर्य कन्याओ का विवाह जीवन मे एक ही बार होता है और वे कभी संकल्पच्युत नही होती।" जब राजा अश्वपति ने देखा कि सावित्री अपने निश्चय पर अटल है, तो उन्हे बाध्य होकर सहमत होना पड़ा। सावित्री और सत्यवान विवाह-ग्रंथि

मे बँध गये, और वह अपने पति के साथ रहकर उसके माता-पिता की सेवा करने, राज-महल को छोडकर वन मे चली गई।

सावित्री को अपने पति की मृत्यु की तिथि ज्ञात थी, पर उसने कभी भी उससे इसकी चर्चा न की। रोज वह गहन अरण्य मे प्रवेश कर, फल-फूल सग्रह करता, ईंधन के लिये लकडी के बोझ बाँधता और कुटी पर लौट आता, वह भी भोजन बनाती और वृद्ध दम्पति की सेवा मे रत रहती। इस प्रकार उनकी जीवन-धारा शान्त गति से बहती रही, और धीरे धीरे वह दुर्दिन समीप आ गया। जब केवल तीन ही दिन शेष रहे, तो सावित्री ने तीन रात्रियो का कठोर व्रतोपवास धारण कर लिया और वह निमिष-मात्र भी नही सोई। रात भर उसकी आँखो मे नीद न थी, उसका हृदय रो रहा था, और आर्त स्वर मे वह प्रभु की आराधना करती रही, पर उस भयकारक दिवस का प्रभात आ ही पहुँचा। उस रोज एक क्षण भी सावित्री ने सत्यवान को अपनी आँखो के ओट नही होने दिया। जब वह ईंधन लाने बाहर जाने लगा, तो वह भी माता-पिता से अनुमति की याचना कर उसके साथ साथ गई। अचानक लड़खड़ाते स्वर मे सत्यवान ने मूर्छित होते हुए उसे कहा, "प्रिये, मुझे चक्कर आ रहा है, मेरी ज्ञानेन्द्रियाँ अवसन्न हो रही है, मेरी सारी देह निद्राभिभूत हो रही है, मुझे अपने समीप थोडा सा आराम करने दो।" भयाक्रान्त हो कम्पित स्वर मे सावित्री बोली, "मेरे जीवन-धन, अपना सिर मेरी गोद मे रखकर विश्राम कीजिये।" सत्यवान ने अपना ताप-तप्त शरीर अपनी पत्नी की गोद मे रखा, और एक दीर्घ श्वास लेते ही उसके प्राण-पखेरू उड गये। सावित्री ने उसके शव को हृदय से लगा लिया, और अश्रुपूर्ण नयनो से वह उस निर्जन वन मे अकेली बैठी रही।

अब यमदूत सत्यवान की आत्मा को ले जाने वहाँ आये पर वे उस स्थान पर नही जा सके, जहाँ सावित्री अपने मृत पति को गोद मे ले विलाप कर रही थी। उसके चारो ओर एक अग्नि-वृत्त-सा था, जिसे पार करने की उनमे क्षमता नही थी। वे सब वहाँ से भाग खडे हुए, और मृत्युराज यम को सत्यवान की आत्मा लाने मे असमर्थ होने का कारण बताने लगे।

तब मृतात्माओ के न्याय-कर्ता, स्वय मृत्युराज यम उस स्थल पर आये। भारतीयो का विश्वास है कि यम आदि-मृतक अर्थात् इस पृथ्वी पर मृत्यु-प्राप्त सर्वप्रथम व्यक्ति है। वे ही सब मर्त्य प्राणियो के अधिपति-पद पर आसीन हो गए है। वे इस बात पर विचार करते है कि मरणोत्तर जीवन मे किस व्यक्ति को क्या दण्ड और पारितोपिक दिया जाय। यम देवता है इसलिये वे सरलतापूर्वक उस अग्नि-चक्र के भीतर प्रवेश कर गये। सावित्री के समीप आ, वे बोले, "पुत्री, इस मृत-देह को छोड़ दो। तुम तो जानती ही हो, सभी प्राणी मृत्युशील है। मै स्वय आदि-मृतक हूँ और तब से सभी प्राणियो को काल-कवलित होना पड़ता है। मानव के लिये मृत्यु ही विधि-विधान है।" यह सुनकर सावित्री कुछ दूर हट गई और यमराज सत्यवान की आत्मा लेकर अपने लोक की ओर जाने लगे। वे थोडी ही दूर गये थे कि उन्हे शुष्क पर्ण-राशि पर किसी की चरण-ध्वनि सुनाई दी। पीछे घूमकर उन्होने देखा सावित्री उनके पीछे आ रही थी। उन्होने कहा, "पुत्री, तुम क्यो व्यर्थ मेरे पीछे पीछे आ रही हो? सभी देहधारियो को देहत्याग करना पड़ता है, मृत्यु ही मानव की नियति है।" सावित्री बोली, "पिताजी, मै आपका अनुसरण कहाँ कर रही हूँ? यह तो नारी का अदृष्ट ही है कि जिस ओर उसका प्रिय पति

जायगा, वह भी उसी ओर अनुगमन करेगी, और यह सनातन नियम है कि पतिव्रता स्त्री और पत्नीव्रत पति मे कभी वियोग नही होता।" तब मृत्युदेवता प्रसन्न हो बोले, "पुत्री, अपने पति के जीवन के अतिरिक्त मुझसे कोई भी वर माँग लो।" सावित्री बोली, "यदि आपकी इतनी कृपा है तो हे मृत्युदेव, मेरे श्वसुर दृष्टि-लाभ पा सुखी रहे।" "तथास्तु, पुत्री" कहकर यमराज सत्यवान की आत्मा लिये मार्ग-क्रमण करने लगे। उन्हे फिर पीछे वैसी ही पद-ध्वनि सुनाई दी। पीछे घूमकर वे बोले, "पुत्री, तुम अब भी मेरा पीछा कर रही हो?" "हाँ पितृवर," सावित्री बोली, "मै बरबस पीछे पीछे खिची चली आ रही हूँ। मै अपनी पूर्ण शक्ति लगाकर लौट जाने का प्रयत्न कर रही हूँ, किन्तु मेरा मन मेरे पति के पीछे जा रहा है और शरीर उसका अनुसरण कर रहा है। मेरी आत्मा तो पहिले ही चली गई है, क्योकि मेरे स्वामी की आत्मा मे मेरी भी आत्मा अवस्थित है, और जहाँ आत्मा जायगी वही शरीर भी जायगा यही नियति है।" इस पर यम बोले, "सावित्री, मै तुम्हारी वाणी से अत्यन्त प्रसन्न हूँ। अपने स्वामी का जीवन-दान छोडकर तुम पुन एक वर माँगो।" सावित्री बोली, "पिताजी, यदि आप प्रसन्न है तो मेरे श्वसुर को अपना हारा हुआ राज्य वापस मिल जाय।" यम बोले, "वत्से, यह वर मै तुम्हे देता हूँ और अब तुम घर लौट जाओ क्योकि यमराज के साथ देहधारी नही चल सकते।" यम फिर चलने लगे किन्तु शीलवती और पतिपरायणा सावित्री ने अब भी अपने मृत पति के पीछे चलना नही छोड़ा। यम ने फिर पीछे फिरकर उससे कहा, "हे मनस्विनी, हे सावित्री, इस प्रकार शोकाकुल हो पीछे पीछे मत आओ।" सावित्री बोली, "मै विवश हूँ जिधर आप

मेरे हृदयधन को ले जायेंगे उस ओर जाने के सिवाय मेरे पास कोई चारा ही नही है।" "तब सावित्री, यदि तेरा पति पापात्मा रहता और नरकगामी होता तो क्या तू भी उसके साथ नरक-वास करती?" सावित्री बोली, "नरक हो या स्वर्ग, मृत्यु हो या जीवन जहाँ मेरे स्वामी रहेंगे वहाँ जाने मे मुझे प्रसन्नता ही होगी।" यम बोले, "वत्से, तुम्हारी वचनावली अत्यन्त मनोहर और धर्म-सगत है। मैं तुम्हारे शब्दो से अत्यन्त प्रसन्न हूँ। तुम मुझसे एक वर और माँग लो किन्तु ध्यान रखो, मृत को जीवन-दान नही मिला करता।" "यदि प्रभु की अनुमति है तो मुझे वर दे कि मेरे श्वसुर का वश नष्ट न होने पाये और इस राज्य पर सत्यवान का उत्तराधिकार सत्यवान के पुत्रो को प्राप्त हो।"

यमराज मुस्कराये और बोले, "पुत्री, तुम्हारी अभिलाषा पूर्ण होगी। यह लो सत्यवान की आत्मा मैं उसे पुनर्जीवन प्रदान करता हूँ। सत्यवान के और तुम्हारे पुत्र ही राज्य-शासन करेंगे। अब घर लौट जाओ। आज प्रेम ने मृत्यु पर विजय पा ली है। नारीरत्न, तुम्हारा प्रेम अप्रतिम है और तुमने यह सिद्ध कर दिया कि मैं मृत्युदेवता भी शुद्ध अपरिवर्तनशील प्रेम की शक्ति के सामने निर्बल हूँ।"

यही सावित्री की कथा है और हरएक भारत-कन्या की यह आकाक्षा रहती है कि वह उस सावित्री के समान बने जिसके प्रेम ने मृत्यु पर भी विजय पा ली, जिसने अपने सर्व-विजयी प्रेम के द्वारा मृत्युदेवता यम के पास से भी अपने हृदयेश की आत्मा का छुटकारा करवा लिया।

महाभारत ऐसी शत शत सुन्दर कथाओ से भरा पड़ा है।

मैने प्रारम्भ मे ही यह कह दिया था कि महाभारत का स्थान विश्व की श्रेष्ठतम पुस्तको मे है, और उसमे अठारह पर्व तथा प्राय. एक लाख श्लोक है। महाभारत की मूलकथा हम पाण्डवो के वनवास तक कह चुके है। वनवास मे भी दुर्योधन ने पाण्डवो का पीछा नही छोडा, किन्तु उसका एक भी कुचक्र सफल नही हुआ।

अब मै उनके वनवास के जीवन की एक कथा कहूँगा। एक दिन पाँचो भाइयो को जगल मे प्यास लगी। युधिष्ठिर ने अपने भाई नकुल को पानी लाने की आज्ञा दी। वह किसी जलाशय की खोज मे निकल पडा और शीघ्र ही एक स्वच्छ झील के समीप पहुँच गया। वह पानी को अपने अधरो से स्पर्श करने ही वाला था कि उसे यह ध्वनि सुनाई दी, "वत्स, ठहरो। पहले मेरे प्रश्नो का उत्तर दो और फिर पानी पीओ।" किन्तु नकुल अत्यन्त तृषाकुल था, उसने इन शब्दो की अवज्ञा कर पानी पी लिया और पीते ही वह मृत हो जमीन पर गिर पडा। जब नकुल बहुत देर तक नही लौटा तो राजा युधिष्ठिर ने सहदेव को उसे खोजने और लौटते समय पानी लेते आने का आदेश दिया। सहदेव भी वही पहुँचा और भाई की मृत देह देखकर शोक-विह्वल तथा प्यास से व्याकुल हो वह जल के समीप गया। उसने भी वैसी ही ध्वनि सुनी, "हे वत्स, ठहरो। पहले मेरे प्रश्नो का उत्तर दो, और फिर पानी पीओ।" उसने भी इन शब्दो की अवहेलना की और अपनी प्यास बुझाकर भूमि पर गिर पडा। इसके पश्चात् क्रमश अर्जुन और भीम इसी खोज मे भेजे गये, पर वे भी अपनी प्यास बुझाने के प्रयत्न मे धराशायी हो गये। जब कोई भी लौटता नही दिखा तो युधिष्ठिर स्वय अपने भाइयो

की खोज में जाने को उठ खडे हुए। अन्त में उस मनोहर सरोवर के समीप आ उन्होंने अपने चारों बन्धु भूमि पर मरे हुए पाये। यह दृश्य देख उनका हृदय शोक-प्लावित हो गया और वे करुण रुदन करने लगे। अचानक उन्होंने उसी ध्वनि को फिर से कहते हुए सुना, "वत्स, अधीर होकर मूर्खता मत कर बैठना। मैं एक यक्ष हूँ और सारस के रूप में छोटी मछलियों पर निर्वाह करता हूँ। मेरे ही कारण तुम्हारे बन्धुगण यमलोक पहुँचे हैं। राजन्, यदि तुम मेरे प्रश्नों का उत्तर न दोगे तो तुम्हारी भी मृत्यु अवश्यम्भावी है। कुन्तिपुत्र, पहले मेरे प्रश्नों का उत्तर प्रदान करो, फिर तुम यथेच्छ जल पीओ और अपने साथ ले जाओ।" युधिष्ठिर बोले, "मैं अपनी बुद्धि के अनुसार आपके प्रश्नों का उत्तर प्रदान करूँगा। आप पूछिये।" फिर यक्ष ने उनसे कई प्रश्न पूछे जिनके उन्होंने सन्तोषप्रद उत्तर दिये। उनमें से एक प्रश्न था, "किमाश्चर्यम्?" अर्थात् विश्व में अत्यधिक आश्चर्य-कारक वस्तु क्या है? युधिष्ठिर ने उत्तर दिया,

"अहन्यहनि भूतानि गच्छन्ति यम-मन्दिरम्।
शेषा स्थिरत्वमिच्छन्ति, किमाश्चर्यमतः परम्॥"

अर्थात् "प्रतिक्षण हम प्राणियों को काल-कवलित होते देखते हैं, फिर भी जो जीवित हैं वे सोचते हैं कि वे कभी नहीं मरेंगे। यही संसार में सर्वाधिक आश्चर्यकारक वस्तु है। मृत्यु के सामने खडे रहने पर भी, किसी को भी यह विश्वास नहीं है कि वह मर जायगा।"

यक्ष ने एक यह भी प्रश्न पूछा था, "कः पन्थाः" अर्थात् वह कौन सा मार्ग है जिसका अनुसरण करने से मानव का यथार्थ कल्याण होगा? महाराज युधिष्ठिर बोले,

"तर्कोऽप्रतिष्ठ, श्रुतयो विभिन्ना,
नासौ मुनिर्यस्य मत न भिन्नम्।
धर्मस्य तत्वं निहितं गुहायां,
महाजनो येन गत स पन्था।"

अर्थात् "तर्क से किसी प्रकार के निश्चय पर नही पहुँच सकते है, क्योकि भिन्न भिन्न मत-मतान्तरो के भिन्न भिन्न तर्क है। श्रुतियाँ भी नानाविध परस्पर-विरोधी उपदेश करती है। कही भी ऐसे दो मुनि नही मिलेगे जिनमे मतभेद न हो। धर्म का रहस्य मानो निविड तम-पूरित कन्दराओ मे छिपा है। अतएव महापुरुषो ने जिस मार्ग से प्रयाण किया है, उसी का अनुसरण करना चाहिये।" यक्ष युधिष्ठिर के उत्तर सुन बोला, "राजन्, मै आपसे अत्यन्त प्रसन्न हूँ। मै सारसरूप मे धर्म हूँ और आपकी परीक्षा ले रहा था। देखिये, आपके बन्धुगण पूर्ववत् जीवित है। यह सब मेरी माया थी। हे भरतर्षभ, आप अर्थ-काम की अपेक्षा अहिसा को श्रेष्ठ मानते है इसलिये आपके सब बन्धुगण जीवित हो उठे।" यक्ष द्वारा इन शब्दो का उच्चारण होते ही, चारो पाण्डव उठ गये।

यहाँ महाराज युधिष्ठिर के स्वभाव और चरित्र की एक झलक दिखाई गई है। उनके उत्तरो से हमे ज्ञात होता है कि वे एक राजा की अपेक्षा एक ज्ञानी, दार्शनिक और योगी ही अधिक थे।

इस समय देश-निर्वासन का तेरहवाँ वर्ष समीप आ रहा था, इसलिये यक्ष ने महाराज युधिष्ठिर को राजा विराट के राज्य मे वेष बदलकर रहने की सम्मति दी।

बारह वर्ष की अवधि व्यतीत होने पर, वे एक वर्ष अज्ञात-वास के हेतु, भिन्न भिन्न वेष धारण कर, विराट के राज्य मे गये

और वहाँ उसके महल मे सामान्य भृत्य-कार्य करने लगे। युधिष्ठिर द्यूत-क्रीडा मे चतुर थे, वे दरबार मे ब्राह्मण-सभासद बन गये। भीम ने पाचक-कर्म अगीकार किया। अर्जुन नपुसक वेप धारण कर राजकन्या उत्तरा को सगीत व नृत्य की शिक्षा देता था और अन्त पुर मे निवास करता था। नकुल राजा की अश्व-शाला का प्रबधक नियुक्त हो गया। सहदेव ने गो-पालन का कार्य स्वीकार किया। द्रौपदी भी चेटी या सैरन्ध्री का वेप धारण कर राजा के अन्त पुर मे रहने लगी। इसी प्रकार छद्म-वेप मे पाँचो पाण्डवो ने बारह महीने निर्विघ्न व्यतीत कर दिये और उनके अनुसधानार्थ किये गये दुर्योधन के प्रयत्न व्यर्थ गये। वर्ष के अन्त मे ही उनका पता चल सका।

प्रकट होने के पश्चात् युधिष्ठिर ने धृतराष्ट्र के निकट एक राज-दूत भेजा और प्रार्थना की कि उनके हिस्से का आधा राज्य उन्हे सौप दिया जाय। किन्तु दुर्योधन पाण्डवो से द्वेष करता था उसने इस न्यायपूर्ण माँग की उपेक्षा की। पाण्डव तो एक प्रान्त नही पाँच गाँव भी स्वीकार करने के लिये राजी थे, किन्तु मूर्ख, जिद्दी और उद्धत दुर्योधन ने जवाब दिया कि बिना युद्ध के सूई की नोक बराबर भी भूमि नही मिल सकती। वृद्ध धृतराष्ट्र ने गृह-कलह निवारणार्थ सधि करवाने का प्रयत्न किया, किन्तु व्यर्थ। कृष्ण ने भी जाकर इस आसन्न युद्ध और ज्ञाति-नाश को टालने का यत्न किया। भीष्म, द्रोण आदि वृद्ध गुरुजनो ने भी शान्तिपूर्वक राज्य का विभाजन करने का यत्न किया, किन्तु कोई सफलता न मिली। निदान दोनो ओर युद्ध की तैयारियाँ होने लगी, विश्व के लडाकू राष्ट्रो ने अपने अपने पक्षो को सहायता दी और रणभेरी बज उठी।

युद्ध मे क्षत्रियो की सभी प्राचीन भारतीय प्रथाओ का पालन किया गया। दुर्योधन ने एक पक्ष ग्रहण किया और युधिष्ठिर ने दूसरा। युधिष्ठिर ने तत्काल ही सभी पार्श्ववर्ती राजाओ को सन्देश भेजकर सहायता की याचना की, क्योकि क्षत्रियों मे यह प्रथा थी कि जिसका अनुरोध पहिले प्राप्त होता उसी का पक्ष वे ग्रहण करते थे। इस प्रकार, सभी ओर के योद्धाओ ने दोनो दलो के अनुरोध की पूर्वापरता के अनुसार पाण्डवो और कौरवो का पक्ष ग्रहण किया। एक भाई इस पक्ष की ओर से युद्ध कर रहा था, तो दूसरा उस पक्ष की ओर से, एक ओर पिता था तो दूसरी ओर से पुत्र युद्ध के लिये खडा था। तत्कालीन युद्ध-नीति भी बडी अद्भुत थी। ज्योही युद्धावसान होता और शाम आती, विरोधी दल अपना वैमनस्य भूल जाते, और मित्रो की भॉति परस्पर के शिविरो मे प्रवेश करने लगते। पर सूर्योदय होते ही वे पुन युद्ध के लिये उद्यत हो जाते थे। यह अद्भुत परिपाटी हिन्दुओ के चरित्र की दिग्दर्शक है, और मुसलमानो के आक्रमण-काल तक उनमे विद्यमान थी। इसी प्रकार एक अश्वारोही किसी पदाति से युद्ध नही करता था, विष मे बुझे शस्त्रास्त्रो का उपयोग वर्जित था, अप्रामाणिकता से तथा असुविधाओ से त्रस्त शत्रु पर विजय पाना निषिद्ध था, किसी अन्य व्यक्ति का अनुचित लाभ उठाना गर्हित समझा जाता था। प्राचीन भारत मे युद्ध सम्बन्धी इस प्रकार के कई नियम थे। इन नियमो का उल्लघन-कर्ता अत्यन्त लाछित और अपमानित किया जाता था। क्षत्रियो को जन्म से ही इसी प्रकार की शिक्षा दी जाती थी। और जब मध्य-एशिया से विदेशियो का आक्रमण हुआ तो हिन्दुओ ने आक्रमण-कारियो के साथ इसी प्रकार बर्ताव किया। उन्होने उन्हे अनेक

बार पराजित किया, और उपहारादि प्रदान कर अपने देश भेज दिया। युद्ध का यह नियम था कि किसी के देश पर बलपूर्वक अधिकार न किया जाय; परास्त व्यक्तियो का यथायोग्य सम्मान किया जाता था और वे अपनी मातृभूमि मे पहुँचा दिये जाते थे। परन्तु मुसलमान विजेताओ ने हिन्दुओ के साथ विपरीत बर्ताव किया और उन्हे अपने हाथ मे पाने पर नृशसतापूर्वक नष्ट कर दिया।

इस युद्ध के प्रसग मे हमे एक बात और स्मरण रखनी चाहिये। महाभारत मे कहा गया है कि उन दिनो युद्ध-कला मे इतनी प्रगति कर ली गई थी कि साधारण धनुष-बाण के स्थान पर मन्त्रचालित देवास्त्रो का प्रयोग होता था जिनमे मन्त्र-शक्ति और चित्तवृत्ति की एकाग्रता का विशेष महत्व था। एक व्यक्ति शतसहस्रो व्यक्तियो से युद्ध कर अपनी इच्छा-शक्ति के प्रयोग से उन्हे भस्म कर सकता था। वह एक तीर छोडकर आकाश मे गरजते हुए तीरो की झडी लगा सकता था, वह किसी भी वस्तु को भस्म कर सकता था। यह सब देवशक्ति का चमत्कार था। इन दोनो ही महाग्रथो रामायण और महाभारत की एक बात और विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन देवास्त्रो के साथ साथ तोपो के उपयोग का उल्लेख भी हमे मिलता है। तोप एक अत्यन्त प्राचीन अस्त्र है जिसका हिन्दू और चीननिवासी सदियो से उपयोग करते रहे हैं। शहरो की चहारदीवारी पर लोहे की पोली नलियो के बने ऐसे सैकडो अद्भुत अस्त्र चढे रहते थे जिनमे गोला-बारूद भरकर सहस्रो मनुष्यो का घात किया जा सकता था। लोगो का विश्वास था कि चीन-निवासी जादू द्वारा पोली नलियो मे शैतान को कैद कर लेते थे और नली के मुँह पर

जलते अगारे रखते ही शैतान भयकर गर्जना करता हुआ आता और सैकडो मनुष्यो को नष्ट कर देता था।

इस प्रकार उस युग मे लोग मत्र-चालित शरो से युद्ध करते थे। और एक व्यक्ति लाखो सैनिको से लड़ सकता था। सेना की व्यूहरचना करने का उनका एक अपना अलग विज्ञान था, और विभिन्न प्रकार से सैन्य-विभाग करने की पद्धतियाँ प्रचलित थी। उनकी सेनाओ मे भी पैदल सैनिक रहते थे जिन्हे 'पदाति' कहा जाता था, अश्वारोही सेना को 'तुरग' सज्ञा दी गई थी। इसके अतिरिक्त दो दो विभाग और है जो सम्प्रति केवल नामशेष रह गये है। एक गज-पक्ति होती थी जिसमे आरोहियो सहित व लोह-वर्म रक्षित सैकडो हाथी रहते थे, जो शत्रु-समूह को पैरो तले रौद डालने का कार्य करते थे। उनकी सेनाओ मे रथ भी थे, रथो का प्रयोग सभी देशो मे हुआ है उनके चित्र आपने देखे ही होगे। इस प्रकार पदाति, तुरग, हस्ति और रथ ये उस समय की सेना के चार विभाग थे।

दोनो ही पक्ष कृष्ण की अनुकूलता प्राप्त करना चाहते थे। किन्तु कृष्ण ने युद्ध मे सक्रिय योग देने से इन्कार कर दिया। वे अर्जुन के सारथि और पाण्डवो के मित्र व सलाहकार बनने के लिये सहमत हो गये और दुर्योधन को उन्होने अपनी अनेक योद्धाओ से सुसज्जित सेना प्रदान कर दी।

फिर कुरुक्षेत्र के महान् रणक्षेत्र मे उस युद्ध का श्रीगणेश हुआ जिसमे भीष्म, द्रोण, कर्ण और दुर्योधन के भ्रातृवृन्द, दोनो ही पक्षावलम्बी अनेक कुटुम्बीजनो और सहस्रो प्रचण्ड योद्धाओ के साथ काम आये। अठारह दिन तक युद्ध चलता रहा। अठारह अक्षौहिणी सेना मे से केवल गिनती के योद्धा ही बच पाये।

दुर्योधन की मृत्यु से युद्ध समाप्त हुआ। पाण्डवों की विजय हुई। इसके पश्चात् कौरव-जननी महारानी गाधारी और विधवा स्त्रियो के करुण विलाप तथा मृतको के अग्नि-सस्कार का वर्णन है।

महाभारत की सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटना है——गीता की अमर और अद्भुत रचना भगवद्गीता। गीता भारत का लोकप्रिय धर्म-ग्रथ है——उसकी सर्वोदात्त शिक्षा है। इसमे, कुरुक्षेत्र मे युद्धारम्भ के पूर्व, अर्जुन और कृष्ण का सवाद लिपिबद्ध किया गया है। जिन्होने गीता नही पढी है उन्हे मै उसे पढने की सलाह दूँगा। अगर आप जानते होते कि आपके खुद के देश को गीता ने कितना प्रभावित किया है तो आज तक आप उसे बिना पढे रह ही नही सकते थे। इमर्सन के उच्च भाव-स्रोत का उद्गम यही गीता है। वे एक बार कार्लाइल से मिलने गये, और कार्लाइल ने उन्हे गीता भेट की और इसी छोटी सी पुस्तक से कॉकॉर्ड * मे जिस उदार दार्शनिक तत्व के आन्दोलन का प्रारम्भ हुआ उसकी नीव पडी। और अमेरिका मे जितने उदार भावो के आन्दोलन है वे सभी किसी न किसी प्रकार उस कॉकॉर्ड-आन्दोलन के ऋणी है।

गीता के मूल-नायक कृष्ण है। जिस प्रकार आप नाजरथ के ईसा मसीह को ईश्वर का अवतार मान उनकी उपासना करते है इसी प्रकार हिन्दू भी कई अवतारो की अर्चना करते है। वे एक-दो मे नही कई अवतारो मे विश्वास करते है जिनके रूप मे भगवान विश्व की आवश्यकतानुसार, धर्म-सस्थापनार्थ और दुष्कृतो के विनाश-हेतु पृथ्वी पर समय समय पर प्रकट हुए है।

* Concord युक्त राज्य का एक शहर। यहीं इमर्सन ने अपने जीवन के शेष ४८ वर्ष विताये थे।

भारत मे हरएक पथ का एक एक अवतार है, और कृष्ण भी उनमे से एक है। भारतवर्ष मे अन्य अवतारो की अपेक्षा कृष्ण के उपासक गणना मे अधिक है। उनके उपासको का विश्वास है कि कृष्ण पूर्णावतार है, और शंका करने पर वे कहते है बुद्ध और अन्य अवतारो की ओर दृष्टिपात कीजिये। वे केवल संन्यासी थे, गृहस्थो के प्रति उनके हृदय मे कोई सहानुभूति नही थी, और होती भी कैसे? पर कृष्ण के जीवन को देखिये, पुत्र, पिता, राजा सभी दृष्टियो से वे महान् है और आजीवन वे अपनी इस महान् शिक्षा को आचरण मे लाते रहे

> कर्मण्यकर्म य पश्येदकर्मणि च कर्म य ।
> स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्त कृत्स्नकर्मकृत् ॥
>
> (गीता, ४–१८)

जो मनुष्य प्रबल कर्मशीलता के बीच रहता हुआ भी नैष्कर्म्य की मधुर शान्ति का उपभोग करता है, और महा निस्तब्धता मे भी जो अत्यन्त कर्मशील रह सकता है, उसी ने जीवन के रहस्य को ठीक ठीक जान लिया है।

कृष्ण ने इस स्थिति को प्राप्त करने का मार्ग भी बताया है वह है अनासक्ति-योग। सभी प्रकार का कर्म करो, किन्तु उसमे आसक्त मत हो। तुम सर्वदा निर्विकार, शुद्ध-बुद्ध और मुक्त आत्मा हो अलिप्त और साक्षी हो। हमारे दुखो का मूल कर्म नही, आसक्ति है। उदाहरणार्थ, अर्थ की ही बात ले। सम्पत्तिशाली होना बड़ी अच्छी बात है। कृष्ण कहेगे अर्थोपार्जन करो, उसके लिये जी-तोड़ परिश्रम करो, पर उसमे आसक्ति मत रखो। यही भाव सन्तान, पत्नी, पति, कुटुम्बी, ख्याति आदि के सम्बन्ध मे रखो। उनका त्याग करने की कोई

आवश्यकता नही है, केवल उनमे आसक्त मत बनो। आसक्ति और अनुराग का भाजन तो केवल भगवान ही बन सकते है ससार की नश्वर और क्षुद्र वस्तुएँ नही। अपने आत्मीयो के लिये परिश्रम करो, उन्हे प्यार करो, उनका हित-सम्पादन करो, अवसर आने पर उनके लिये अपने जीवन का बलिदान भी कर दो किन्तु उनमे आसक्त मत हो। कृष्ण का खुद का जीवन उनके इस उपदेश का एक उज्ज्वल उदाहरण है।

यह स्मरण रहे कि कृष्ण का जीवन-चरित्र वर्णन करनेवाला ग्रथ कई सहस्र वर्ष पुराना है, और कृष्ण और नाजरथ-निवासी ईसा के जीवन की कुछ घटनाओ मे अत्यन्त साम्य है। कृष्ण का राजकुल मे जन्म हुआ था। कस नाम का एक अत्याचारी राजा था और यह भविष्यवाणी की गई थी कि उसके स्थान पर अमुक वश मे जन्म-प्राप्त व्यक्ति राजा बनेगा। इसलिये कस ने तमाम बालको के वध की आज्ञा दे दी। कृष्ण के माता-पिता को कस ने कारागृह मे बद कर दिया था और वही उनका जन्म हुआ। उनके जन्म-ग्रहण के समय समस्त कारागार ज्योति से उद्भासित हो उठा। नवजात बालक बोला, "मै समग्र जीवजगत् की ज्योति हूँ और विश्वकल्याण के लिए अवतीर्ण हुआ हूँ।" आप देखेगे कि कृष्ण को रूपक-स्वरूप गोपालनशील बताया गया है और उनका एक नाम गोपाल है। सतो ने आकर कहा, "साक्षात् भगवान ने नररूप धारण किया है" और वे उनका स्तुति-गान करने लगे। श्रीकृष्ण की जीवन-लीला के अन्य अशो मे ईसा के जीवन से साम्य नही है।

कृष्ण ने नृशस और क्रूर कस को पराभूत किया, किन्तु सिहासनासीन हो स्वय राज्य करने का विचार तक उनके मन मे

नही आया। उनका इससे लेश-मात्र भी सम्बन्ध नही। उन्हे तो बस अपना कर्तव्य भर पूर्ण करना था। युद्ध की समाप्ति के पश्चात् प्रचण्ड योद्धा भीष्म पितामह जिन्होने अठारह दिन मे से दस दिन तक युद्ध किया था अद्यापि शरशय्या पर लेटे लेटे युधिष्ठिर को राजा के कर्तव्य, वर्णाश्रम धर्म, विवाह, दान आदि विषयो पर, प्राचीन ऋषियो की शिक्षा पर आधारित उपदेश प्रदान कर रहे थे। उन्होने युधिष्ठिर को साख्य और योग दर्शनो की शिक्षा दी, और अनेक उपाख्यान, ऋषिमुनियो, राजाओ व देवताओ के जीवन के प्रसग बताये। इन शिक्षाओ से, पूर्ण ग्रथ का प्राय एक चतुर्थांश भाग भरा है और ये आर्यो की नीति, विधि और कर्तव्य शास्त्र की आगार हैं।

इसी बीच युधिष्ठिर का राज्यारोहण हो गया। व्यास के आदेशानुसार उन्होने अश्वमेध यज्ञ भी कर लिया, किन्तु भीषण रक्तपात और गुरुजनो व आत्मीयो के नाश का महान् दुख उन्हे मन ही मन रुला रहा था। युद्ध के पश्चात् चौदह वर्ष तक महाराज धृतराष्ट्र शान्ति और सम्मान पूर्वक जीवित रहे। युधिष्ठिरादि उनकी पिता के समान आज्ञा मानते थे। अब वे वृद्ध राजा युधिष्ठिर को सिहासन पर छोड़, अपनी पतिपरायणा रानी और पाण्डव-जननी कुन्ती को साथ ले, अपने शेष दिन भगवदाराधना मे व्यतीत करने वन मे चले गये।

धीरे धीरे युधिष्ठिर को राज्य मिले छत्तीस वर्ष बीत गये। तब उन्हे कृष्ण के देहत्याग का हृदय-विदारक समाचार ज्ञात हुआ। उनके मित्र और सलाहकार कृष्ण तत्ववेत्ता और योगिराज कृष्ण इस ससार मे न रहे। अर्जुन शीघ्रता से द्वारका पहुँचे, पर यही दुखद वार्ता लेकर लौटना पड़ा कि कृष्ण और

सभी यादव कालकवलित हो गये है। तब दुखाभिभूत हो महाराज युधिष्ठिर और उनके बंधु सोचने लगे कि अब उनका भी इस विश्व से प्रस्थान करने का समय समीप आ पहुँचा है। राज्य-भार अर्जुन के पौत्र परीक्षित को सौप, महाप्रस्थान करने वे हिमालय पर चले गये। यह सन्यास का एक विशेष प्रकार है। वृद्ध राजाओ मे सन्यास ग्रहण करने की प्रथा थी। प्राचीन भारत मे वृद्धावस्था प्राप्त करने पर व्यक्ति सर्वस्व त्याग कर सन्यास ले लेते थे। जीवन के प्रति ममता का अन्त हो जाने पर, वे निर्जल-अनशन व्रत धारण कर हिमालय की ओर प्रस्थान कर देते थे और देह-पात पर्यन्त ईश्वर-चिन्तन-करते करते आगे बढते जाते थे।

अब देवता और ऋषिगण आकर युधिष्ठिर को सशरीर स्वर्ग जाने के लिये कहने लगे। इसके लिये हिमालय के सर्वोच्च शिखर का पार करना आवश्यक हो जाता है। हिमगिरि के उस पार सुमेरु पर्वत है और उसी के शिखर पर स्वर्ग है। कोई भी वहाँ सदेह प्रवेश नही कर सका। वही देवताओ के निवास है। देवताओ ने युधिष्ठिर को वही आमन्त्रित किया।

अत पाँचो भाइयो और उनकी पत्नी द्रौपदी ने वल्कल परिधान किया और यात्रा प्रारम्भ कर दी। मार्ग मे एक कुत्ता उनका अनुगमन करने लगा। वे आगे ही आगे बढते गये, उनके क्लान्त और व्यथित पद उत्तर मे उस ओर बढ रहे थे जहाँ गिरिराज हिमालय अपने गर्वोन्नत मस्तक पर शुभ्र हिमाच्छादित शिखरो का मुकुट धारण किये खडा है। अब उन्हे सुमेरु गिरि के भी दर्शन होने लगे।

निस्तब्धतापूर्वक वे श्वेत हिम-राशि पर चलते जा रहे थे कि

महारानी द्रौपदी अवसन्नदेह हो भूमि पर गिर पडी और फिर नही उठ सकी। सबके अग्रेसर युधिष्ठिर से भीम ने कहा, "महाराज, देखिये, महारानी गिर पड़ी है।" राजा की आँखो से आँसू झर रहे थे, पर उन्होंने पीछे मुडकर नही देखा। वे केवल इतना ही बोले, "हम अपने आराध्य कृष्ण से मिलने आतुर हो चले जा रहे है पीछे देखने के लिये समय नही है। आगे बढो।" कुछ देर बाद भीम फिर बोले, "देखिये, सहदेव भी भूमिपतित हो गया है।" राजा के नयनो से पूर्ववत् आँसुओ की झडी लगी थी, पर वे रुके नही। उनके ओठो पर वही 'आगे बढो' का आदेश था।

अब क्रमश नकुल, अर्जुन और भीम का भी उसी शीत और हिम मे देहपात हो गया, पर युधिष्ठिर एकाकी होने पर भी अविचलित भाव से अपने लक्ष्य की ओर बढते रहे। पीछे घूमने पर उन्हे दिखा कि वफादार कुत्ता अब भी उनके पीछे पीछे आ रहा है। खाई-पहाडो को पार करते हुए वे उस अनन्त हिम-राशि पर चढते चढते अन्त मे सुमेरु पहाड़ तक पहुँच गये और उन्हे स्वर्ग के सगीत कर्ण-गोचर होने लगे। धर्मनिष्ठ राजा पर देवताओ ने देवपुष्पो की वृष्टि की। तब देवताओ का रथ उतरा और सुरपति इन्द्र ने महाराज से प्रार्थना की, "नरश्रेष्ठ, इस रथ मे पधारिये, आपको सदेह स्वर्ग-गमन का सौभाग्य प्राप्त हुआ है।" किन्तु नही युधिष्ठिर अपने स्नेही-बधुओ और महारानी द्रौपदी के बिना यह स्वीकार नही कर सके। तब इन्द्र ने उन्हे बताया कि उनके भाई पहिले ही स्वर्ग मे पहुँच गये है।

अब युधिष्ठिर चारो ओर दृष्टिपात कर अपने कुत्ते से बोले, "रथ मे चढ़ जाओ, वत्स।" इन्द्र यह सुनकर चकित-से रह

गये। वे बोले, "क्या यह अधम कुत्ता रथारूढ़ होगा? महाराज, आप विचारशक्ति तो नही खो बैठे है? आपका क्या आशय है? इस कुत्ते को आपको त्यागना होगा। यह कैसे स्वर्ग जा सकता है? महाराज, आप मनुष्य-जाति मे सर्वश्रेष्ठ धार्मिक है। केवल आप ही सशरीर स्वर्ग-गमन कर सकते है।" युधिष्ठिर शान्त चित्त से बोले, "इसने हिम और शीत मे मेरा साथ दिया है। मेरे चारो बन्धु एक एक कर देह त्याग कर गये, राजमहिषी द्रौपदी भी इस लोक से चली गई, पर इस स्वामी-भक्त कुत्ते ने मेरा साथ कभी नही छोड़ा। मैं भला कैसे इसका त्याग कर सकता हूँ?" तब इन्द्र बोले, "कुत्तो को साथ लानेवाले मानवो के लिये स्वर्ग मे कोई स्थान नही। इसलिये इस कुत्ते का परित्याग आपको करना ही होगा। इसमे कोई अधर्म नही होगा।" राजा युधिष्ठिर उसी प्रकार दृढ़ हो बोले, "यदि यह कुत्ता मेरे साथ स्वर्गारोहण नही कर सकता तो मुझे भी स्वर्ग जाने की कोई लालसा नही है। इस देह मे प्राण रहते, मैं कभी भी ऐसे व्यक्ति का परित्याग नही करूँगा जिसने मेरा आश्रय ग्रहण किया है। स्वर्ग के आनन्द का लोभ, या किसी देवता की आज्ञा मुझे धर्म के मार्ग से पराङ्मुख नही कर सकती।" यह सुन सुरराज बोले, "केवल एक शर्त पर कुत्ता स्वर्ग मे जा सकता है। आप नरश्रेष्ठ है, मनुष्यो मे सर्वश्रेष्ठ धर्म-परायण है और यह एक अधम-योनि का जीवमास-भक्षी हिंस्र पशु है। यह पापात्मा है, इसका जीवन हिंसापूर्ण है। आप पुण्यात्मा है आप अपने पुण्यार्जित स्वर्ग का उससे विनिमय कर ले।" राजा बोले, "सुरराज, मुझे स्वीकार है। कुत्ते को रथारूढ़ कर स्वर्ग मे ले जाया जाय।"

युधिष्ठिर के यह वाक्य बोलते ही दृश्य परिवर्तित हो गया। उनके ये उदात्त एव उदार भाव सुनकर वह कुत्ता अपने यथार्थ रूप मे प्रकट हो गया। युधिष्ठिर ने देखा, उनके समक्ष साक्षात् धर्मराज, न्याय और मृत्यु के देवता यम खडे है। यम राजा से बोले, "राजन्, आप-सा नि:स्वार्थ व्यक्ति अब तक इस भूमण्डल मे नही जन्मा। आप एक क्षुद्र कुत्ते से अपने पुण्यार्जित स्वर्ग-भोग का विनिमय करने को तैयार हो गये, उसके लिये अपने समस्त पुण्य का त्याग कर, नर्क मे जाना भी स्वीकार कर लिया। महाराज, आपके जन्मग्रहण से यह वसुधा धन्य हो गई है। हे राजन्, आपका हृदय प्राणिमात्र के लिये स्नेह व करुणा से प्लावित हो रहा है, इसलिये आपने अपने पुण्य-प्रभाव से इन सब अनन्त आनन्दमय लोको का उपार्जन कर लिया है और स्वर्ग ही आपके लिये एकमेव उपयुक्त धाम है।"

तब धर्मराज युधिष्ठिर इन्द्र, यम और अन्य देवताओ के साथ रथारूढ हो स्वर्गारोहण करते है। वहाँ उनकी नरक-दर्शनादि अन्य कतिपय परीक्षाये होती है। फिर वे सुरगगा मे स्नान कर, निर्जर-देह धारण करते है। उनके अमरत्व-प्राप्त बधुओ से उनका स्नेह-मिलन होता है और वे सब आनन्द की पराकाष्ठा प्राप्त कर लेते है।

इस प्रकार महाभारत के उच्च भावात्मक महाकाव्य में 'धर्म की जय और अधर्म की पराजय' दिखाने के पश्चात् उसकी परिसमाप्ति की गई है।

उपसहार में, मेरे लिये महाप्रतिभा और मनीषा सम्पन्न महर्षि व्यास द्वारा वर्णित उन असख्य महामहिमामय उन्नत और उदात्त महापुरुषो के जीवन का उल्लेख करना भी नितान्त

असम्भव है। धर्मभीरु किन्तु वृद्ध, अंध और निर्बल धृतराष्ट्र के हृदय में चलनेवाला पुत्र-प्रेम और कर्तव्य का द्वन्द्व, पितामह भीष्म का उदात्त और उन्नत चरित्र, महाराज युधिष्ठिर का उदार व धार्मिक स्वभाव, और उनके चारों बन्धुओं का उन्नत चरित्र, स्वामी-निष्ठा और अप्रतिम वीरता, मानवीय ज्ञान की चरम-सीमा-प्राप्त श्रीकृष्ण का अद्वितीय व्यक्तित्व, और महासती तपस्विनी रानी गांधारी, पुत्रवत्सला कुन्ती, पतिपरायणा और सर्वसहिष्णु द्रौपदी आदि रमणियों का चरित्र जो पुरुषों से किसी भाँति कम नहीं है तथा इस महाग्रंथ और रामायण के अन्य अनगिनती चरित्र-नायक विगत सहस्रों वर्षों से समस्त हिन्दूजाति की यत्न-संचित जातीय सम्पत्ति रहे हैं और उनके विचारों व कर्तव्याकर्तव्य तथा नीति सम्बन्धी सिद्धान्तों की आधार-शिला है। यथार्थ में, रामायण और महाभारत प्राचीन आर्य-जीवन और बुद्धिमत्ता के दो ऐसे ज्ञानकोष हैं जिनमें एक ऐसी उन्नत सभ्यता का चित्र खींचा गया है जो मानव-जाति को अब भी प्राप्त करनी है।

जड़-भरत की कथा

(कैलिफोर्निया में दिया हुआ भाषण ।)

प्राचीन काल मे भरत नाम के एक महान् प्रतापी सम्राट भारतवर्ष मे राज्य करते थे। विदेशी लोग जिस देश को 'इण्डिया' कहते है, उसे उस देश की सन्तान भारतवर्ष कहती आई है। हर एक हिन्दू के लिये स्मृति का आदेश है कि वृद्धावस्था मे पदार्पण करते ही वह सर्वस्व त्याग कर, इस ससार का समस्त भार ऐश्वर्य, धन-सम्पत्ति अपने पुत्र के लिये छोड वनगमन करे और वहाँ अपने यथार्थ स्वरूप आत्मा का चिन्तन करते करते इस ससार के मोहो से मुक्ति प्राप्त करे। राजा और रक, कृषक और किकर, नर और नारी सभी इसी प्रकार कर्तव्यबद्ध है, क्योकि गृहस्थ के सारे कार्य पुत्र, बधु, पति, पिता, स्त्री, पुत्री, माता और भगिनी सबके कर्तव्य-कर्म केवल इसी एक अवस्था की ओर ले जानेवाले सोपान मात्र है जिसमे मानव के जड बधन चिरकाल के लिये टूट जाते है और वह मुक्त हो जाता है।

सम्राट भरत भी इसी प्रकार अपना राज्य अपने पुत्र के सुपुर्द कर वनवास करने चले गये। जो एक दिन कोटि प्रजा पर शासन करते थे, दुग्ध-धवल सगमर्मर के सुवर्ण-मण्डित राजप्रासादो मे वास करते थे, जो रत्न-जटित चसको से मदिरा-सेवन करते थे, वे ही आज वन मे जा, अपने ही हाथो से हिम-गिरि की तलहटी के निविड कान्तार मे किसी स्रोतस्विनी के तीर पर घास-फूस की एक छोटी सी कुटी बनाकर निवास करने लगे। अपने परिश्रम से प्राप्त किये हुए कन्द-मूलो का आहार करते हुए महाराज भरत

अपना जीवन उस अन्तर्यामी परमात्मा के ध्यान और चिन्तन में बिताने लगे जो हरएक मनुष्य में साक्षीरूप से नित्य विद्यमान है। इस प्रकार दिन, मास और वर्ष बीतने लगे।

एक दिन, जहाँ राजर्षि ध्यानावस्था में बैठे थे वहीं एक हरिणी पानी पीने आई। इसी क्षण कुछ दूरी पर एक सिंह ने गर्जना की। हरिणी इतनी भयभीत हो गयी कि तृष्णा शान्त किये बिना ही, उसने नदी पार करने के लिये छलांग मार दी। हरिणी सगर्भ थी, और इस श्रम और भय के कारण उसने तत्काल एक शावक प्रसव कर प्राण छोड दिये। मृग-शावक नदी में गिर पड़ा और तीव्र जल-धारा में बहने लगा। उसी समय राजर्षि भरत की दृष्टि उस पर पड़ी। वे ध्यानावस्था से उठकर उसकी रक्षा करने नदी में कूद पडे। मृग-शावक को कुटी में ले जाकर उन्होंने अग्नि प्रदीप्त की, और अपनी स्नेहपूर्ण हथेलियों से सहला-सहलाकर उसकी मूर्छा दूर की। करुणाविह्वल हो राजर्षि ने शावक की रक्षा का भार अपने ऊपर ले लिया और स्वयं ही हरित तृण और फल संग्रह कर उसका लालन-पालन करने लगे। वनवासी राजा का पितृवत् स्नेह पा मृग-शावक दिन दिन बडा हो धीरे एक सुन्दर हरिण बन गया। और राजर्षि, जिन्होंने जीवन के सम्पूर्ण मोह, अधिकार, सम्पदा और कौटुम्बिक स्नेह के बन्धनों से मुक्ति प्राप्त कर ली थी, सरिताजल से उद्धार किये हुए इस मृग-शावक के मोह-पाश में बद्ध हो गये। ज्यों ज्यों वे उससे अधिकाधिक स्नेह करने लगे, त्यों त्यों उनका ईश्वर-चिन्तन और उपासना कम होती गई। जब हरिण वन में चरने चला जाता और उसके लौटने में कुछ विलम्ब हो जाता तो राजर्षि चिन्तातुर और दुखी होने लगते। वे सोचते कहीं मेरे प्यारे मृग-शावक

पर किसी सिंह ने तो आक्रमण नहीं कर दिया, उसका कुछ अनिष्ट तो नहीं हो गया, उसे आज क्यों इतनी देर हो गई?

इस प्रकार वर्ष बीत गये, और महर्षि का मृत्यु-काल समीप आ गया। मरणासन्न होने पर भी, उनका मन आत्मचिन्तन में मग्न न था, वे हरिण के विषय में सोच रहे थे और अपने प्रिय शावक की शोक-विह्वल आँखों पर दृष्टि स्थिर रखते हुए ही वे पर-लोकगामी हो गये। फल-स्वरूप उन्हें मृगरूप धारण कर पुनर्जन्म ग्रहण करना पड़ा। किन्तु कर्म नष्ट नहीं होता है, पूर्व-जन्म के सुकृतों का फल उन्हें प्राप्त हुआ। यह हरिण जन्मतः ही जातिस्मर था, और यद्यपि वह वाचाहीन और चतुष्पाद था, उसे अपने पूर्व-जन्म की सब घटनायें स्मरण थीं। वह अपने सहचरों का साथ छोड़, स्वभावतः ही तपोवनों के समीप चरने जाता, जहाँ यज्ञ-होम और उपनिषद-पाठ होते रहते थे।

आयु पूर्ण होने पर मृगरूपी भरत ने पञ्चत्व प्राप्त किया और पुनः एक धन-सम्पन्न ब्राह्मण के कनिष्ठ पुत्र के रूप में जन्म लिया। इस जीवन में भी उन्हें अपने पूर्व-जन्म का विस्मरण नहीं हुआ था, और उन्होंने अपने बाल्यकाल में ही जीवन के पाप-पुण्य के पाशों से दूर रहने का निश्चय कर लिया। वय-प्राप्त होने पर बालक स्वस्थ और बलवान हो गया, पर वह एक शब्द भी नहीं बोलता था और संसार के मोह-मायापूर्ण व्यापारों में न फँसने के लिये वह जड़-मूढ़ और पागल-सा रहने लगा। उसके हृदय में सदा अनन्त-ब्रह्म-चिन्तन चला करता था और अपने प्रारब्ध-कर्म क्षय करने के लिये ही वह जीवन बिता रहा था। कालक्रम से उसके पिता की मृत्यु हो गई और पुत्रों ने परस्पर में सम्पत्ति का बँटवारा कर लिया। कनिष्ठ

बन्धु को मूक और अकर्मण्य समझकर उसका भी हिस्सा वे निगल गये। वे उसे केवल जीवन-निर्वाहार्थ अन्न प्रदान कर देते थे। बस, केवल यही तक उनका उस पर अनुग्रह था। उसकी भाभियाँ भी सदैव उससे अत्यन्त कर्कश व्यवहार करती थी। वे उससे सारे कठिन काम करवाती और यदि वह उनकी इच्छानुसार काम न करता तो उससे अत्यन्त कठोर व्यवहार करती। किन्तु वह न तो कभी चिढ़ा और न डरा ही, एक शब्द भी न बोलते हुए धैर्यपूर्वक सब सहता गया। जब वे उसे बहुत तग करती तो वह घर से दूर जा एक वृक्ष के नीचे भाभियो का क्रोध शान्त होने तक बैठा रहता और फिर चुपचाप घर लौट आता।

एक दिन उसके भाई की पत्नियो ने उसके प्रति अत्यन्त नृशस व्यवहार किया। भरत बिना कुछ बोले घर से निकल गये और किसी वृक्ष की छाया तले विश्राम करने लगे। दैवयोग से उस देश का राजा उसी मार्ग से पालकी पर बैठा जा रहा था। पालकी ढोनेवाले कहारो मे से एक अचानक ही अस्वस्थ हो गया, इसलिये उसके भृत्यगण रिक्त स्थान की पूर्ति के लिये किसी मनुष्य की खोज मे इधर-उधर देख रहे थे। वृक्ष के नीचे बैठे भरत को देख वे वहाँ आये और उन्हे हट्टा-कट्टा देखकर बोले, "राजा का एक शिविका-वाहक अस्वस्थ हो गया है। क्या तुम उसके स्थान पर काम करोगे?" भरत कुछ न बोले। उन्हे इतना स्वस्थ देखकर, राजा के भृत्यो ने उन्हे बलपूर्वक पकड़ लिया और पालकी ढोने को बाध्य किया। भरत भी नि शब्द शिविका-वहन करने लगे। किन्तु शीघ्र ही राजा ने देखा कि पालकी की गति और दिशा सम नही है। पालकी मे से झाँककर राजा नये वाहक को सम्बोधन कर बोला, "अरे मूर्ख! जा आराम कर, यदि तेरे कधे

दुख रहे हैं तो थोडा सा आराम कर।" तब भरत ने पालकी नीचे रख जीवन मे प्रथम बार अपना मौन भग किया और बोले, "हे राजन्, आप किसे मूर्ख कह रहे हैं? किसे आप शिविका नीचे रखने का आदेश दे रहे हैं? आप किसे क्लान्त कह रहे हैं? किसे 'तू' कह सम्बोधन कर रहे हैं? राजन्, यदि 'तू' से आपका अर्थ यह मास-पिण्ड है तो यह उसी पदार्थ से बना है जिससे आपकी देह, यह अचेतन और जड है इसे थकावट और पीड़ा का कैसे ज्ञान होगा? यदि आपका अर्थ मन है तो यह आपके मन जैसा ही है, यह सर्वव्यापी है। किन्तु यदि 'तू' शब्द से आपका लक्ष्य इनसे भी परे किसी वस्तु से हैं तो वह केवल आत्मतत्व ही हो सकता है जो मेरा यथार्थ स्वरूप है, जिसकी सत्ता आपमे भी है, और जो विश्व मे 'एकमेवाद्वितीय' है। राजन्, क्या आप सोचते हैं कि आत्मा कभी क्लान्त भी होती है? क्या आप कहना चाहते हैं कि आत्मा कभी आहत भी होती है? राजन्, मैं

यह शरीर धरती पर रेंगनेवाले इन कीडो को पैरो तले कुचलना नही चाहता था, और इसीलिये उनकी रक्षा के यत्न मे पालकी की गति विषम हो गई थी। किन्तु आत्मा कभी क्लान्त और व्यथित नही होती, उसे कभी दुर्बलता प्रतीत नही होती और न उसने शिविका-भार ही वहन किया, क्योंकि आत्मा तो सर्व-शक्तिमान और सर्वव्यापी है।" इस प्रकार भरत ने आत्मा के स्वरूप, पराविद्या आदि विषयो पर ओजस्विनी वाणी मे बड़ी देर तक विवेचन किया। अपने ज्ञान और विद्वत्ता का राजा को अत्यन्त अभिमान था, पर भरत के ये शब्द सुन उसका गर्व चूर्ण हो गया। पालकी से उतरकर उसने भरत के चरणो मे प्रणाम किया और बोला, "महाभाग, मुझे क्षमा करे, आपको शिविका-

प्रह्लाद-चरित

(कैलिफोर्निया में दिया हुआ भाषण।)

हिरण्यकशिपु दैत्यो का राजा था। देव और दैत्य यद्यपि एक ही पिता की सन्तान थे तथापि वे सदैव परस्पर युद्ध-सलग्न रहते थे। दैत्यो को मानवजन-प्रदत्त यज्ञ-भाग अथवा जगत् के शासन का कोई अधिकार न था। किन्तु कभी कभी वे अत्यन्त प्रवल हो जाते और देवताओ को स्वर्ग से बाहर निकाल, उनका सिहासन छीन, स्वय राज करने लगते थे। तब देवतागण इस ब्रह्माण्ड के सर्वव्यापी प्रभु विष्णु की प्रार्थना करते, और उनकी सहायता से उनकी विपदाये दूर हो जाती थी। दैत्य स्वर्ग से निकाल दिये जाते और पुन देवगण राज करने लगते।

दैत्यराज हिरण्यकशिपु इसी भाँति एक बार अपनी ज्ञाति-बधु देवगण पर विजय प्राप्त कर, स्वर्ग के सिहासन पर आरूढ हो त्रिभुवन अर्थात् मानव व अन्य जीव-जन्तु द्वारा अध्युषित मध्यलोक, सुरधाम स्वर्गलोक और दैत्य-भूमि पाताल पर शासन करने लगा। अब, उसने अपने को त्रिभुवन का स्वामी घोषित कर दिया, और यह मुनादी पिटवा दी कि उसके सिवाय दुनिया मे कोई ईश्वर नही है, इसलिये कही भी कोई विष्णु की पूजा न करे और त्रिभुवन मे एकमात्र उसी की पूजा की जाय।

हिरण्यकशिपु के प्रह्लाद नामक एक पुत्र था। अपनी शैशवावस्था से ही उसकी भगवान विष्णु के चरणाम्बुजो मे परम अनुरक्ति थी। बाल्यकाल मे ही उसकी इस विशुद्ध भक्ति के लक्षण देख, दैत्यराज हिरण्यकशिपु को भय हुआ कि जिस पाप को वह ससार से ही जड़मूल सहित नष्ट कर देना चाहता है

वहन मे नियुक्त करते समय मैं नही जानता था कि आप एक सिद्ध पुरुष है।" भरत राजा को आशीर्वाद दे विदा हो गये और पुन पूर्ववत् जीवनयात्रा शुरू कर दी। देहत्याग करने पर भरत आवागमन के बधनो से मुक्त हो गये।

प्रह्लाद-चरित

(कैलिफोर्निया में दिया हुआ भाषण।)

हिरण्यकशिपु दैत्यो का राजा था। देव और दैत्य यद्यपि एक ही पिता की सन्तान थे तथापि वे सदैव परस्पर युद्ध-सलग्न रहते थे। दैत्यो को मानवजन-प्रदत्त यज्ञ-भाग अथवा जगत् के शासन का कोई अधिकार न था। किन्तु कभी कभी वे अत्यन्त प्रवल हो जाते और देवताओ को स्वर्ग से बाहर निकाल, उनका सिहासन छीन, स्वय राज करने लगते थे। तब देवतागण इस ब्रह्माण्ड के सर्वव्यापी प्रभु विष्णु की प्रार्थना करते, और उनकी सहायता से उनकी विपदाये दूर हो जाती थी। दैत्य स्वर्ग से निकाल दिये जाते और पुन देवगण राज करने लगते।

दैत्यराज हिरण्यकशिपु इसी भाँति एक बार अपनी ज्ञाति-वधु देवगण पर विजय प्राप्त कर, स्वर्ग के सिहासन पर आरूढ हो त्रिभुवन अर्थात् मानव व अन्य जीव-जन्तु द्वारा अध्युषित मध्यलोक, सुरधाम स्वर्गलोक और दैत्य-भूमि पाताल पर शासन करने लगा। अब, उसने अपने को त्रिभुवन का स्वामी घोषित कर दिया, और यह मुनादी पिटवा दी कि उसके सिवाय दुनिया मे कोई ईश्वर नही है, इसलिये कही भी कोई विष्णु की पूजा न करे और त्रिभुवन मे एकमात्र उसी की पूजा की जाय।

हिरण्यकशिपु के प्रह्लाद नामक एक पुत्र था। अपनी शैशवावस्था से ही उसकी भगवान विष्णु के चरणाम्बुजो मे परम अनुरक्ति थी। बाल्यकाल मे ही उसकी इस विशुद्ध भक्ति के लक्षण देख, दैत्यराज हिरण्यकशिपु को भय हुआ कि जिस पाप को वह ससार से ही जड़मूल सहित नष्ट कर देना चाहता है

वही उसके अपने कुटुम्ब मे जड़ जमाने का यत्न कर रहा है। अत उसने अपने पुत्र को शड और अमर्क नामक दो अत्यन्त कठोर और छात्रशासन-दक्ष आचार्यो के सुपुर्द कर दिया, और उन्हे आज्ञा दी कि भविष्य मे प्रह्लाद को विष्णु का नाम तक कर्णगोचर न हो। आचार्य-द्वय, कुमार को अपने साथ घर ले आये, और उसे उसके समवयस्क अन्यान्य छात्रो के साथ रखकर शिक्षा देने लगे। किन्तु शिशु प्रह्लाद, शिक्षा मे मनोयोग न दे, अपना सारा समय अन्य दैत्य-बालकों को भगवान विष्णु की अर्चना-विधि सिखाने मे ही विताने लगा। जब आचार्यो को यह ज्ञात हुआ तो वे अतिशय भयभीत हुए। उन्हें प्रतापी दैत्यराज के कोप का अत्यन्त भय था इसलिये बालक प्रह्लाद को इन कार्यो से परावृत्त करने के लिये वे यथाशक्ति चेष्टा करने लगे। किन्तु प्रह्लाद के लिये तो विष्णु-नाम-ग्रहण श्वास-प्रश्वास की भाँति स्वाभाविक था, स्वय विष्णु की उपासना करना और इतरजनों को उसकी प्रणाली सिखाना यही उसका जीवन था, अत वह अपने मार्ग से विचलित न हो सका। निदान अपने दोष-क्षालनार्थ आचार्यो ने स्वय हिरण्यकशिपु से यह भयकर तथ्य निवेदन कर दिया कि प्रह्लाद न केवल स्वय ही विष्णु की उपासना करता है, वरन् अन्य बालको को भी उपासना-प्रणाली सिखा-सिखाकर कुपथगामी बना रहा है।

यह समाचार सुन दैत्यराज क्रोध से आगबबूला हो गया। उसने बालक प्रह्लाद को अपने सामने बुलवाया। प्रथम उसने कोमल वाणी मे उसे विष्णु की पूजा से पराङ्मुख कर यह समझाने का यत्न किया कि ब्रह्माण्ड मे दैत्यराज हिरण्यकशिपु के अतिरिक्त कोई दूसरा ईश्वर नही है इसलिये केवल उसी की पूजा की

जाय। किन्तु बालक प्रह्लाद पर इसका कोई प्रभाव न पड़ा। वह पुन पुन. यही कहता था कि सर्व-व्यापी, त्रिभुवनेश्वर भगवान विष्णु ही एकमात्र उपास्य है, और दैत्यराज का राजस्व भी भगवान विष्णु के इच्छाधीन है। अब दैत्यराज के क्रोध की सीमा न रही और उसने तत्काल प्रह्लाद के वध की आज्ञा दे दी। दैत्यो ने तीक्ष्ण शस्त्रास्त्रो से उसकी कोमल देह पर आघात किये, पर उसका चित्त विष्णु के ध्यान मे इतना मग्न था कि उसे तनिक भी पीडा नही हुई।

हिरण्यकशिपु को जब ज्ञात हुआ कि शस्त्र-प्रहार से प्रह्लाद का बाल भी बॉका न हुआ तो वह अत्यन्त भयाकुल हो गया। किन्तु दानवोचित असत्-प्रवृत्ति के वशीभूत हो, उसने बालक प्रह्लाद का वध करने के कई राक्षसी उपायो का अवलम्बन करना शुरू कर दिया। उसने उसे हाथी के पैरो तले कुचल देने का आदेश दिया। किन्तु जिस प्रकार क्रुद्ध हाथी लोह-गोलक को अपने पूरे सामर्थ्य से भी नही पीस सकता, उसी भाँति प्रह्लाद का भी वह कुछ न बिगाड़ सका। जब इस उपाय से काम न चला, तो दैत्यराज ने प्रह्लाद को पहाड़ की चोटी से फेकने की आज्ञा दी। इस आदेश का भी पालन हुआ, पर प्रह्लाद के हृदय-कमल मे भगवान विष्णु निवास करते थे, इसलिये वह कोमल तृणांकुरो पर धीरे से गिरनेवाले हल्के फूल की भाँति पृथ्वी पर आ पड़ा। प्रह्लाद का विनाश करने के लिये हिरण्यकशिपु ने विष, अग्नि, अनशन, कूप-पातन, तंत्र-मंत्र आदि अनेकविध उपायों का प्रयोग किया किन्तु सब व्यर्थ हुए। 'जाको राखे साइयाँ, मार सके नहि कोय।' प्रह्लाद के हृदय मे भगवान विष्णु की छबि स्थित थी, उसका कौन क्या बिगाड़ सकता था?

अन्त मे हिरण्यकशिपु ने आज्ञा दी कि पाताल से विशालकाय सर्पो का आह्वान किया जाय, और प्रह्लाद को नाग-पाश मे बद्ध कर समुद्र मे फेक दिया जाय, फिर उस पर बडे बडे पहाड़ स्तूपाकार चुन दिये जायँ——जिससे तत्क्षण नही तो निदान काल-क्रम से उसका अन्त हो जाय। इस प्रकार नृशस व्यवहार किये जाने पर भी, बालक प्रह्लाद अपने परमाराध्य विष्णु की "हे त्रिभुवनेश्वर, हे जगत्पते, हे अनन्त-सौन्दर्य-निधे," कह-कह प्रार्थना करता रहा। इस प्रकार सकट-काल मे विष्णु का ध्यान और चिन्तन करते करते बालक को भास होने लगा कि स्वयं भगवान विष्णु उसके निकट विद्यमान है निकट ही नही विष्णु उसकी आत्मा मे अवस्थित है। धीरे धीरे उसे प्रतीत होने लगा कि वह स्वय विष्णु है और अग-जग मे सर्वत्र वही व्याप्त हो रहा है।

ज्योही प्रह्लाद को यह अद्वैतानुभूति होने लगी, नाग-पाश स्वयमेव खुलने लगे, पहाड चूर-चूर होने लगे, समुद्र मे ज्वार-भाटा आने लगा, और लहरो ने उसे अपने शिर पर धारण कर किनारे तक पहुँचा दिया। प्रह्लाद उस समय यह सब भूल गया कि वह एक दैत्य है, और उसके पार्थिव शरीर है। उसे प्रतीति हो रही थी वह ब्रह्माण्ड-स्वरूप है, और विश्व की समस्त शक्तियों का आदिस्रोत है, इस जगत् मे प्रकृति मे ऐसी कोई वस्तु नही है जो उसे क्षति पहुँचा सके, वह स्वय प्रकृति का शास्ता-स्वरूप है। इस प्रकार समाधि-जनित अविच्छिन्न परमानन्द मे कुछ काल व्यतीत होने पर शनै शनै उसे देह-भान हुआ और स्मरण होने लगा कि वह दैत्य कुलोत्पन्न प्रह्लाद है। देह-भान होते ही उसे पुन यह ज्ञान होने लगा कि उसके अन्तर और

बाह्य चारो ओर ईश्वर की सत्ता है और उसे हर वस्तु मे विष्णुरूप के दर्शन होने लगे।

दैत्यराज हिरण्यकशिपु ने जब देखा कि उसके अनन्य शत्रु विष्णु के अनन्य भक्त—उसके पुत्र प्रह्लाद के निधनार्थ प्रयुक्त सभी उपाय विफल हो गये है तो वह भीतिग्रस्त और किंकर्तव्य-विमूढ हो गया। उसने पुन प्रह्लाद को अपने समीप बुलवाया और मधुर वचनो से अपनी सलाह पर चलने का उपदेश देने लगा। किन्तु प्रह्लाद पूर्ववत् ही उत्तर देता रहा। हिरण्यकशिपु ने सोचा कि शिक्षा और वयवृद्धि के साथ साथ प्रह्लाद के ये बालोचित विचार बदल जायेगे। इसलिये उसने उसे पुन शड और अमर्क के सुपुर्द कर उसे राजधर्म की शिक्षा प्रदान करने का आदेश दिया। किन्तु प्रह्लाद की उसमे कोई रुचि न थी, और अवकाश पाते ही वह अपने सहपाठियो को विष्णु की उपासना का उपदेश देने लगता।

राजा के कानो मे जब यह समाचार पहुँचा तो वह क्रोध मे आपे से बाहर हो गया। उसने प्रह्लाद को बुलाकर प्राणान्त की धमकियाँ दी और उसके उपास्य विष्णु के प्रति हीनतम अप-शब्द प्रयुक्त किये। किन्तु इसके उपरान्त भी प्रह्लाद बार बार बलपूर्वक यही कहता गया कि भगवान विष्णु चराचर के स्वामी है और अनन्त, अनादि, सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान और एकमात्र आराध्य है। हिरण्यकशिपु सक्रोध गरजकर बोला, "अरे पापिष्ठ, यदि तेरा विष्णु सर्वव्यापी है, तो क्या वह उस स्तम्भ मे नही है?" प्रह्लाद बोला, "क्यो नही? वे उस स्तम्भ मे भी विद्यमान है।" लडके की धृष्टता से क्रुद्ध दैत्यराज बोला, "रे दुष्ट, मै अभी इस खड्ग से तुझे यमसदन भेजे

देता हूँ, देखूँ कैसे तेरा विष्णु तेरी रक्षा करता है।" ऐसा कह हिरण्यकशिपु अपनी तलवार ले उसकी ओर झपटा और उसने उस स्तम्भ पर एक जोर का वार किया। इसी क्षण उस स्तम्भ से वज्र-निर्घोष हुआ और भगवान विष्णु नृसिंह-रूप धारण कर प्रकट हुए। सहसा यह भीषण रूप देखकर दैत्यगण भयभीत हो प्राणरक्षार्थ इतस्ततः दौड़ने लगे। हिरण्यकशिपु बलपूर्वक प्राणपण से बड़ी देर तक वहाँ युद्ध करता रहा, किन्तु अन्त में भगवान नृसिंह के हाथों पराभूत और निहत हो गया। तब देवतागण स्वर्ग से आगमन कर विष्णु का स्तुति-गान करने लगे। प्रह्लाद भी भक्ति-विह्वल हो प्रभु के चरणों में प्रणिपात कर, गद्गद् कण्ठ से विष्णु की प्रार्थना करने लगे। तब भगवान प्रसन्न हो प्रह्लाद से बोले, "वत्स, प्रह्लाद! तुम निर्भय हो इच्छानुसार वर माँगो, तुम मुझे अत्यन्त प्रिय हो।" प्रह्लाद गद्गद् स्वर में बोले, "प्रभु, आपके दर्शन पाकर अब और कौन सी इच्छा अतृप्त रह गई है? आप मुझे किसी प्रकार के ऐहिक या पारत्रिक ऐश्वर्य का प्रलोभन न दिखाइये।" पुनः भगवान बोले, "प्रह्लाद, तुम्हारी निष्काम भक्ति देखकर मुझे तुमसे अत्यन्त प्रीति हो गई है। हमारा दर्शन निष्फल नहीं होता, इसलिये वत्स, कोई एक वर अवश्य माँग लो।" तब प्रह्लाद बोले

या प्रीतिरविवेकाना विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु ॥

(विष्णुपुराण, १—२०—१९)

अर्थात् "हे प्रभो, जो तीव्र आसक्ति अज्ञानियों को ऐहिक पदार्थों के प्रति होती है, वही मेरे हृदय में आपका स्मरण करते समय आपके प्रति हो।"

तब भगवान बोले, "प्रह्लाद, यद्यपि मेरे परम भक्तों को इहलोक और परलोक में किसी वस्तु की आकांक्षा नहीं रहती है, तथापि मेरे आदेश से सदा मुझमें भक्ति रखते हुए, कल्पान्त तक इस लोक का ऐश्वर्य-भोग और पुण्य कर्मों का अनुष्ठान करो और इस प्रकार कालक्रम से यह देह-पात होने पर तुम मुझे प्राप्त करोगे।

इस प्रकार प्रह्लाद को वर प्रदान कर भगवान विष्णु अन्तर्हित हो गये। तब ब्रह्मा प्रभृति देवगण भी प्रह्लाद को दैत्यराज अभिषिक्त कर अपने अपने लोक को प्रस्थान कर गये।

विश्व के महान् आचार्य

(३ फरवरी १९०० को पैसाडेना शेक्सपियर समिति में दिया हुआ भाषण ।)

हिन्दुओ के मतानुसार यह विश्व तरगो की भाँति गतिमान है। वह एक बार उठता है और उन्नति की पराकाष्ठा प्राप्त कर लेता है, तदनन्तर उसका पतन प्रारम्भ होता है कुछ समय तक वह इसी प्रकार अवनति के गर्त मे पडा रहता है मानो पुन उत्थान के लिये शक्ति सग्रह कर रहा हो! सागर की भीमकाय तरगो के समान निरन्तर उत्थान और पतन, पतन और उत्थान यही विश्व की गति है। समष्टि के लिये जो विधान सत्य है वही व्यष्टि के लिये भी सत्य होगा। मनुष्य-समाज के सभी व्यापारो मे भी यही तरगवत् उत्थान और पतन की गति है, राष्ट्रो के इतिहास भी इसी उत्थान और पतन की कहानियाँ है, वे उठते है और गिरते है उत्थान के बाद पतनकाल आता है व पतन के पश्चात् पहले की अपेक्षा और भी अधिक शक्ति के साथ पुनरुत्थान होता है। निरन्तर यही उत्थान व पतन का चक्र चलता रहता है। धार्मिक जगत् मे भी अनवरत रूप से यही क्रिया चल रही है। प्रत्येक जाति के आध्यात्मिक जीवन मे पतन व उत्थान के युग होते है। जब जाति की अवनति होती है तो प्रतीत होता है कि उसकी जीवन-शक्ति नष्ट हो गई है वह छिन्न-भिन्न हो गई है। किन्तु वह पुन बल सग्रह करती है उन्नति करने लगती है जाग्रति की एक विशाल लहर उठती है, और सदैव यही देखा जाता है कि इस विशालकाय तरग के उच्चतम सिर पर कोई दिव्य महापुरुष विराजमान रहते है। एक ओर जहाँ वे उस तरग उस जाति के अभ्युत्थान के शक्तिदाता होते

है, वही दूसरी ओर वे स्वय उस महती शक्ति के फलस्वरूप होते हैं जो (शक्ति) उस अभ्युदय उस तरंग का मूल है। इस प्रकार वे एक दूसरे पर क्रिया-प्रतिक्रिया करते रहते हैं परस्पर के स्रष्टा एव सृष्ट हैं जनक व जन्य है। वे एक ओर समाज को अपनी महान् शक्ति से प्रभावित व अभिभूत करते है और दूसरी ओर समाज की अभ्युदयकारी शक्ति के ही वे प्रतीक या आधार होते हैं। ये ही संसार के महान् विचारक व मनीषी होते है, ये ही दुनिया के पैगम्बर, जीवन-दर्शन के सदेश-वाहक ऋषि व ईश्वर के अवतार कहलाते हैं।

कुछ व्यक्तियो की धारणा है कि दुनिया मे केवल एक ही धर्म, एक ही ईश्वरावतार या एक ही पैगम्बर हो सकता है, किन्तु यह धारणा सत्य नही है। इन सब महापुरुषो के जीवन का अध्ययन व मनन करने पर हमे ज्ञात होगा कि उनमे से प्रत्येक को विधाता ने मानो केवल एक बस एक अश का अभिनय करने के लिये ही निर्दिष्ट किया था और वह यह कि रागमाधुरी-एकलयता सब स्वरो के समन्वय मे है, किसी एक स्वर मे नही। विभिन्न राष्ट्रो व जातियो के इतिहास भी यह बतायेगे कोई जातिविशेष सदा के लिए ससार का उपभोग करने की अधिकारी नही रह सकती। जातियो की इस ईश्वरनिर्दिष्ट एकलयता मे सभी जातियो को अपने अपने अश का अभिनय करना पडता है। सभी जातियो को अपना अपना जीवन-ध्येय प्राप्त करना पडता है, अपने अपने कर्तव्य की पूर्ति करनी पडती है। इन सबकी समष्टि ही उस महान् समन्वय उस महान् एकलयता का निर्माण करती है।

जाति सम्बन्धी उपरोक्त बात महापुरुषो और पैगम्बरो

पर भी लागू होती है। उनमे से कोई भी सारे विश्व पर सदा के लिये शासन करने नही जन्मा है। ऐसा न तो आज तक हुआ है और न भविष्य मे कभी होगा ही। उनमे से प्रत्येक ने मानव जाति की शिक्षा मे अपना अश प्रदान किया है, और जहाँ तक इस अश का सम्बन्ध है, कहा जा सकता है कि समय प्राप्त होने पर अवश्य ही ये महापुरुष विश्व के शासक व भाग्यविधाता बनेगे।

हममे से अनेक जन्मतः ही सगुण धर्म, अवतारवाद मे श्रद्धा रखते है। हम सिद्धान्तो की चर्चा करते है, सूक्ष्म तत्वो व उपपत्तियो पर विचार-विमर्श करते है। यह ठीक है, किन्तु हमारे प्रत्येक कार्य, प्रत्येक विचार से यही प्रकट होता है कि हम किसी तत्व को केवल तभी समझ सकते है जब किसी व्यक्तिविशेष के चरित्र मे हम उसे उतरा हुआ पाते है। किसी सूक्ष्म तत्व की धारणा मे हम तभी समर्थ होते है जब वह किसी पुरुषविशेष के रूप मे साकार रूप धारण कर लेता है। केवल दृष्टान्त की सहायता से ही हम उपदेशो को समझ पाते है। काश ! ईश्वरेच्छा से हम सब इतने उन्नत होते कि हमे तत्वविशेष की धारणा करने मे दृष्टान्तो व आदर्श पुरुषो के माध्यम की आवश्यकता न पडती ! किन्तु हम उतने उन्नत नही है, और इसलिये स्वभावतः ही अधिकाश मनुष्यो ने इन असाधारण व्यक्तियो - ईसाइयो, बौद्धों व हिन्दुओ द्वारा पूजित इन पैगम्बरो व अवतारो को आत्म-समर्पण कर दिया है। मुसलमानो ने तो आरम्भ से ही ऐसी उपासना का विरोध किया है। पर इस कट्टर विरोध के बावजूद भी हम देखते है कि एक पैगम्बर की उपासना तो दूर रही, वे प्रत्यक्षत. सहस्रो पीरो की पूजा करते पाये जाते है। प्रत्यक्ष घटनाओ को मिथ्या नही कहा जा सकता। व्यक्तिविशेष की

अर्चना हमे करनी ही होगी। इसी मे हमारा हित है। तुम्हारे उपास्यदेव ईसा को जब लोगो ने पूछा, "प्रभु, हमे परम पिता परमेश्वर के दर्शन कराइये," तो ईसा ने कहा, "जिसने मुझे देख लिया है, उसने उस परम पिता को भी देख लिया है।" उनके इस उत्तर का आप स्मरण करे। हम ईश्वर का केवल मानवीय भाव मे ही दर्शन कर सकते है। हममे ऐसा कौन है जो ईश्वर की मानवातिरिक्त अन्य भाव मे कल्पना कर सकता है? केवल मनुष्यरूप मे, केवल मानवता के माध्यम से ही हम ईश्वर-दर्शन कर सकते है। इस कमरे मे सर्वत्र प्रकाश की किरणे वर्तमान है किन्तु हम उनका स्पन्दन देखने मे क्यो असमर्थ है? केवल किसी दीप मे ही हम उन्हे देख सकते है। इसी प्रकार ईश्वर भी सर्वव्यापी, निराकार व निर्गुण तत्व है, किन्तु हमारी प्रकृति ही ऐसी है कि हम केवल किसी नररूपधारी अवतार के माध्यम से ही उसकी उपलब्धि कर सकते है उसका साक्षात्कार कर सकते है। जब इन महान् ज्योतिर्मय आत्माओ का विश्व मे आविर्भाव होता है तभी मनुष्य को ईश्वर-साक्षात्कार होता है। और हम जिस रूप मे विश्व मे पदार्पण करते है, वे उस प्रकार विश्व मे नही आते। हम विश्व मे आते है भिक्षुको व अकिंचनो की भाँति, दरिद्रो और कगालो के रूप मे, पर उनका आगमन होता है सम्राटो की भाँति मानव-हृदय पर युगो तक राज्य करने। मातृपितृविहीन अनाथो-से, भूले बटोहियो-से किंकर्तव्यविमूढ हो हम सब विश्व मे भटकते रहते है। हम नही जानते कि हमारे जीवन का अर्थ व उद्देश्य क्या है। हमारे इस उद्देश्यहीन जीवन मे हम आज तो एक काम करते है और कल दूसरा। हम प्रवाह-पतित तिनको की भाँति लहरो के थपेड़े खाते इधर-उधर बहते जाते है

तथा झझा मे उड़ते पखो के समान अन्त मे इतस्तत गिर पडते है।

किन्तु हमे दिखेगा कि मानवजाति के इतिहास मे विश्व के कल्याण के लिये जो अवतार हुए है, उनका जीवन-व्रत प्रारम्भ से ही निश्चित रहा है। अपने जीवन का सारा नक्शा, सारी योजना उनकी आँखो के सामने थी, और उससे वे एक इच भर भी न डिगे। इसका कारण यह है कि वे अपने जीवन मे विश्व के लिये एक सदेश लेकर आये थे, उनके जीवन मे एक लक्ष्य था, एक व्रत था। वे केवल उसे पूरा करना चाहते थे, उसके सम्बन्ध मे तर्क-वितर्क करना नही। क्या तुमने ऐसे किसी पैगम्बर या अवतार के सम्बन्ध मे सुना या पढा है जिसने अपने उपदेशो को युक्ति का आधार दिया है? उनमे से किसी ने अपने विचार व कार्य की पुष्टि तर्क द्वारा नही की। और वे करते भी क्यो? वे तो सीधे शब्दो मे सत्य को व्यक्त करना जानते है। उनमे सत्य के दर्शन करने की क्षमता है और है उसे दूसरो को दिखाने का सामर्थ्य। यदि तुम मुझसे पूछो कि ईश्वर है या नही, और मैं कह दूँ कि हाँ, ईश्वर है, तो तुम झट से मुझे अपनी युक्तियाँ बताने के लिये बाध्य करोगे, और मुझ बिचारे को कुछ युक्तियाँ पेश करने के लिये अपनी सारी शक्ति लगा देनी पड़ेगी। किन्तु यदि कोई ईसा से यही प्रश्न पूछता तो ईसा तत्काल उत्तर देते, "हाँ, ईश्वर है," और यदि तुम ईसा से इसका प्रमाण माँगते तो निश्चय ही ईसा ने कहा होता, "लो, यह ईश्वर तुम्हारे सम्मुख खड़ा है, दर्शन कर लो।" इस प्रकार हम देखते है कि इन महापुरुषो की ईश्वर-विषयक धारणा साक्षात् उपलब्धि, प्रत्यक्ष दर्शन पर आधारित है, तर्कजन्य नही। वे अधकार मे

नही टटोलते, उनके कथन मे प्रत्यक्ष दर्शन का बल होता है। जब मैं इस मेज को प्रत्यक्ष देख रहा हूँ, तो फिर कोई भले ही शत शत युक्तियो द्वारा क्यो न चेष्टा करे, इस मेज के अस्तित्व मे मेरा विश्वास नष्ट नही हो सकता। इसी प्रकार ये महापुरुषगण भी अपने विश्वास पर अटल रहते है, क्योकि वे ईश्वर का प्रत्यक्ष दर्शन करते है और इसलिये उन्हे अपने आदर्शों मे, अपने ध्येय मे और सर्वोपरि, स्वय मे इतना ही अटल विश्वास व श्रद्धा है। इन दिव्य पुरुषो मे जितना आत्मविश्वास है, उतना अन्यत्र कही नही दिखता। लोग पूछते है—"क्या तुम ईश्वर मे विश्वास रखते हो ? क्या तुम परलोक के अस्तित्व को मानते हो ? क्या इस मत मे या उस शास्त्रादेश मे श्रद्धा रखते हो ?" लोग ये सब विश्वाससम्बन्धी प्रश्न पूछते तो है पर उन्हे यह पूछना कभी नही सूझता कि "तुम्हारा खुद अपने ऊपर विश्वास है या नही।" आत्मविश्वास ही इन सबका भित्तिस्वरूप है। जिसे स्वय पर विश्वास नही है, उससे अन्य तत्वो मे विश्वास रखने की आशा कैसे की जा सकती है ? हम अपने अस्तित्व के विषय मे भी तो नि सशय नही है। कभी हम सोचते है हम नित्यसत्य-स्वरूप है, कोई हमारा नाश नही कर सकता, और दूसरे ही क्षण हम मृत्युभय से कॉपने लगते है। अभी हम सोचते है कि हम अजर, अमर है और पल ही भर बाद अपनी ही कल्पना का कोई भूत देखकर हम किंकर्तव्यविमूढ हो जाते है, हमे यह भी ध्यान नही रहता कि हम क्या है और कहाँ है, जीवित है या मृत है। कभी सोचते है कि हम खूब धार्मिक है, अत्यन्त चरित्रसम्पन्न व पवित्र है, किन्तु दूसरे ही क्षण एक धक्का लगता है और हम चारो कोने चित हो जाते है। इसका कारण ?

कारण यही है कि हमारा आत्मविश्वास मर गया है, हमारी नैतिकता की रीढ टूट गई है।

मानवजाति के इन महान् आचार्यों मे तुम्हे यह एक चिह्न सर्वत्र दिखेगा कि उनमे प्रचण्ड आत्मविश्वास भरा है। उनका यह आत्मविश्वास असाधारण है, इसलिये हम उसे पूर्णतया नही समझ सकते। इसीलिये इन महापुरुषो के आत्मविषयक वचनो व कथनो को, हम कई प्रकार से व्याख्या करके उडा देने का प्रयत्न करते है एव उन्होने अपने साक्षात्कार, अपनी ईश्वरोपलब्धि के सम्बन्ध मे जो बाते कही है, उनका अर्थ लगाने के लिये सहस्रो मतवादो की सृष्टि कर लेते है। हम अपने विषय मे उन महापुरुषो के समान नही सोच सकते, और इसीलिये, स्वाभाविकतया, हम उन्हे समझ भी नही पाते।

जब इन महापुरुषो के मुख से शब्द निकलते है तो सारा विश्व बाध्य होकर उन्हे सुनता है। जब वे बोलते है, तो एक-एक शब्द सीधे हृदय मे प्रवेश करता है, वह बम के समान फूट पड़ता है और सुननेवाले पर अपना असीम प्रभाव जमा लेता है। निरी वाणी मे क्या है, यदि वाणी के पीछे वक्ता की प्रचण्ड शक्ति न हो? तुम किस भाषा मे बोलते हो और किस प्रकार अपनी भाषा मे शब्दविन्यास करते हो इससे किसी को क्या मतलब? तुम अच्छी, लच्छेदार, ओजपूर्ण भाषा का प्रयोग करते हो या व्याकरण-सगत भाषा बोलते हो अथवा तुम्हारी भाषा अलकारपूर्ण है या नही इनसे भी किसी का क्या प्रयोजन? प्रश्न तो है तुम्हारे पास लोगो को देने के लिये कुछ है या नही? यहॉ केवल कहानी-किस्से सुनने की बात नही है, बात है देने और लेने की। क्या तुम्हारे पास देने के लिये कुछ है? यही पहला

व मुख्य प्रश्न है। यदि है तो दो। शब्द तो केवल तुम्हारी देन को लोगो तक पहुँचा देगे, ये तो केवल एक माध्यम है। कभी कभी हम देखते है कि मौन रहकर भी एक व्यक्ति दूसरे मे भाव संचारित करता है। दक्षिणामूर्ति स्तोत्र मे कहा है.

चित्रं वटतरोर्मूले वृद्धा शिष्या गुरुर्युवा।
गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं शिष्यास्तु छिन्नसंशया ॥

"आश्चर्य! इस वटवृक्ष के नीचे युवक गुरु व वृद्ध शिष्यगण आसीन है। मौन ही गुरु का शास्त्र-व्याख्यान है और उसी से शिष्यो की शकाये नष्ट होती जा रही है।"

इस प्रकार कभी कभी शब्दो की सहायता के बिना भी एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक सत्य का सचार हो जाता है। ये महापुरुष दुनिया के लिये एक सौगात, एक देन, एक भेट लेकर आते है। ये ईश्वर के दूत है--ये उसका आदेश लेकर आते है और हमारा काम है उसे शिरोधार्य करना। क्या तुम्हे याद नही, स्वय ईसा ने तुम्हारे शास्त्रो मे किस अधिकारपूर्ण वाणी से लोगो को आज्ञा दी है, "अतएव तुम जाओ, और दुनिया की तमाम कौमो को वह सब अमल मे लाने के लिये सिखाओ, जिसे मानने का मैने तुम्हे हुक्म दिया है।" 'मुझे जगत् को विशेष कुछ देना है' इस बात मे प्रचण्ड विश्वास ईसा की समस्त उक्तियो मे देखा जाता है, और यही प्रबल विश्वास तुम्हे ससार के उन सब महापुरुषो की वाणी मे मिलेगा जिन्हे दुनिया पैगम्बरो और अवतारो के रूप मे पूजती आ रही है।

मानवजाति के ये महान् आचार्यजन पृथ्वी पर अवतीर्ण जीवन्त ईश्वर-स्वरूप है। इनके अतिरिक्त हम और किनकी उपासना करे? मैं अपने मन में ईश्वर की धारणा करने का

प्रयत्न करता हूँ और अन्त मे पाता हूँ मेरी धारणा अत्यन्त क्षुद्र और मिथ्या है। इस प्रकार कल्पित ईश्वर की उपासना अधर्म है। फिर जब मैं अपनी आँखे खोलकर पृथ्वी की इन महान् आत्माओं के चरित्र व उनकी लीलाओ को देखता हूँ तो मुझे प्रतीत होता है कि ईश्वरविषयक मेरी उच्च से उच्च धारणा से भी वे कही उच्चतर और महान् है। मेरे जैसा व्यक्ति, जो किसी चोर का पीछा कर, उसे पकड़कर कारावास की यातनाये सहने के लिये बाध्य करता है, दया की क्या कल्पना क्या धारणा कर सकेगा? क्षमा-दया सम्बन्धी मेरी उच्चतम कल्पना कहाँ तक पहुँच सकती है? मैं जितना दयाशील हूँ क्षमाशील हूँ, वही तक मेरी क्षमा व दया की कल्पना पहुँच सकेगी। मैं जहाँ तक गुणसम्पन्न हूँ, तदपेक्षा उच्चतर धारणा मेरी हो ही नही सकती। अपनी भौतिक सीमाओ को कौन लाँघ सकता है? अपनी मानसिक चहारदीवारी कौन पार कर सकता है? ईश्वरी प्रेम के बारे मे हमारी धारणा और क्या हो सकती है? हम अपने इस क्षुद्र जीवन मे आपस मे जो प्रेम करते है उसकी अपेक्षा प्रेम की उच्चतर धारणा हम कर ही कैसे सकते है? जिसका हमने कभी अनुभव ही नही किया, उसकी कल्पना भला हम कैसे कर सकेगे? इसलिये अपने मन मे ईश्वर की कल्पना व धारणा करने के मेरे सभी प्रयत्न व्यर्थ है। किन्तु इन महापुरुषो के जीवन की प्रत्यक्ष घटनाये हमारे सामने है, उनके दया, प्रेम व पवित्रता से भरे ऐसे प्रत्यक्ष कार्य है जिनकी हम कल्पना तक नही कर सकेगे। तब फिर क्या आश्चर्य है, यदि मैं इन महापुरुषो की चरणवन्दना कर, उनके पदाम्बुजो मे लुण्ठित हो, ईश्वर के रूप मे उनकी अर्चना करूँ? और कोई अन्य भी इसके अतिरिक्त

और क्या करेगा! निराकार-तत्व के बारे मे लम्बी लम्बी बाते करना सरल है, पर मुझे एक तो ऐसा व्यक्ति बताओ जो उपर्युक्त साकार-उपासना के अतिरिक्त और कुछ कर सके। करने और कहने मे बहुत भेद है। निराकार ईश्वर, निर्गुण तत्व आदि के विषय मे जल्पना करना कठिन नही, और कोई करे तो मुझे आपत्ति नही, किन्तु ये नर-देव ये मानवरूपधारी देवता, सदा से, सभी जातियो व सभी राष्ट्रो के यथार्थ मे ईश्वर रहे है। ये सकल देव-मानव चिरकाल से पूजित होते रहे है, और तब तक पूजित होते रहेगे जब तक मानव मानव बना रहेगा। उन्ही को देखकर 'यथार्थ ईश्वर है, यथार्थ धर्म-जीवन है,' आदि विषयो मे हमारा विश्वास हो सकता है, और ईश्वरोपलब्धि, धर्म-जीवन-लाभ की हम आशा कर सकते है। केवल अस्पष्ट रहस्यमय तत्वविवेचना से क्या लाभ ?

मेरे कथन का तात्पर्य मै जो आपसे कहना चाहता हूँ उसका उद्देश्य केवल यही है कि मैने अपने जीवन मे इन सब अवतारो की उपासना कर सकना सम्भव पाया है व भविष्य मे होनेवाले अनेक अवतारो की उपासना करने मे प्रस्तुत हूँ। एक माँ अपने बच्चे को किसी भी वेश मे पहिचान लेती है, और यदि कोई स्त्री यह नही कर सकती, तो यह निश्चय है कि वह उस बच्चे की माँ नही है! अत तुममे से जो किसी एक विशेष अवतार मे ही सत्य व ईश्वर की अभिव्यक्ति देखते है और दूसरो मे नही, उनके विषय मे स्वाभाविकतया मेरा निष्कर्ष यही है कि वे किसी भी अवतार के ईश्वरत्व को नही जानते। ऐसे व्यक्तियो ने केवल कुछ शब्द मात्र निगल लिये है; और जिस प्रकार राजनीति मे व्यक्ति सत्यासत्य की चिन्ता

न कर किसी एक दल का साथ देने लगते है, उसी प्रकार ऐसे व्यक्तियो ने एक सम्प्रदायविशेष को ही अपना सर्वस्व मान लिया है। पर यह धर्म नही है। ससार मे ऐसे अधे व मूढ़ भी कई है जो समीप मे शुद्ध और मीठे पानी का कुआँ होने पर भी खारे कुएँ का ही पानी पीयेगे, क्योकि उस कुएँ को उनके पूर्वजो ने खुदवाया था! अतएव, मैंने अपने अल्प अनुभव से यही सीखा है कि धर्म मे जो दोष व त्रुटियाँ लोग देखते है, उनके लिये धर्म का कोई उत्तरदायित्व नही है, उसमे धर्म का कोई दोष नही है। धर्म ने कभी मनुष्यो पर अत्याचार करने की आज्ञा नही दी, धर्म ने कभी स्त्रियो को चुड़ैल व डाइन कहकर जीवित जला देने का आदेश नही दिया, किसी धर्म ने कभी इस प्रकार अन्यायपूर्ण कार्य करने की शिक्षा नही दी। तब लोगो को ये अत्याचार, ये अनाचार करने के लिये किसने उत्तेजित किया? कूटनीति ने—धर्म ने नही, और यदि इस प्रकार की कुटिल राजनीति धर्म का स्थान अपहरण कर ले, धर्म का नाम धारण कर ले तो यह दोष किसका है?

इसलिये, जब एक व्यक्ति खड़ा होकर आह्वान करता है कि केवल मेरा धर्म ही सच्चा है, मेरा पैगम्बर ही सच्चा है, तो वह झूठ बोलता है उसे अपने धर्म का 'क, ख' भी मालूम नही। धर्म न तो सिद्धान्तो की थोथी बकवास है, न मतमतान्तरो का प्रतिपादन व खण्डन है और न अन्यान्य के विचारो से बौद्धिक सहमति ही है। धर्म का अर्थ है—हृदय के अन्तर्तम प्रदेश मे सत्य की उपलब्धि। धर्म का अर्थ है ईश्वर का सस्पर्श प्राप्त करना, इस तत्व की प्रतीति करना—उपलब्धि करना कि मै आत्मस्वरूप हूँ और अनन्त परमात्मा व उसके अनेक अवतारो से मेरा युग-

युग का अच्छेद्य सम्बन्ध है। यदि तुमने यथार्थ मे उस परमपिता के गृह मे प्रवेश किया है तो अवश्य ही उसके पुत्रजन का दर्शन किया होगा। तब फिर यह क्यो कहते हो कि तुम उन्हे नही पहचानते ? और यदि तुम वास्तव मे उन्हे नही पहचानते हो, तो यह सत्य है कि तुम ईश्वर के गृह मे अब तक प्रवेश नही पा सके हो। जननी अपने वत्स को किसी भी वेश मे पहचान लेती है, पुत्र का छद्मवेश उसकी आँखो को धोखा नही दे सकता। सभी युगो व सभी देशो के इन महान् नर-नारियो को पहचानो, और यह ज्ञान प्राप्त करो कि उनमे परस्पर मे कोई भेद, कोई अन्तर और पार्थक्य नही है। जहाँ कही भी यथार्थ धर्म का विकास हुआ है, यह दिव्य ब्रह्म-सस्पर्श हुआ है, ईश्वर का साक्षात्कार हुआ है, आत्मा द्वारा परमात्मा की प्रत्यक्ष उपलब्धि हुई है, वहाँ व्यक्तियो का हृदय इतना विशाल व उदार बन गया है कि वे देश तथा काल के बधनो से मुक्त होकर ईश्वर व उसके अवतारो की परम ज्योति का दर्शन सर्वत्र --सभी धर्म और सभी देशो के अवतारो मे करते है।

आजकल अर्वाचीन उत्क्रान्तिवाद अर्थात् क्रम-विकासवाद के सिद्धान्त के साथ एक और चीज भी देखने मे आती है--यह है अपक्रान्तिवाद अर्थात् क्रमावनति या पूर्वावस्था की ओर पुनरावर्तन (Atavism)। धार्मिक क्षेत्र मे भी देखा जाता है कि हम कई बार उदारतर भावो के साथ कुछ अग्रसर हो पुन प्राचीन सकीर्ण मतो की ओर लौट आते है। किन्तु ऐसा न कर हमे किसी नई दिशा मे विचार करने का प्रयत्न करना चाहिये, चाहे वह गलत ही क्यो न हो। निश्चेष्ट रहने की अपेक्षा तो यही श्रेयस्कर है। हम क्यो न लक्ष्य की ओर अग्रसर होने का प्रयत्न करे ? असफलताओ से

ही ज्ञान का उदय होता है। अनन्त काल हमारे सम्मुख है फिर हम हताश क्यों हों। दीवाल को देखो। क्या वह कभी मिथ्या भाषण करती है? पर उसकी उन्नति भी कभी नहीं होती वह दीवाल की दीवाल ही रहती है। मनुष्य मिथ्या भाषण करता है, किन्तु उसमें देवता बनने की भी क्षमता है। नर नारायण भी बन सकता है। इसलिये हमें सदैव क्रियाशील प्रयत्नशील बने रहना चाहिये। कोई परवाह नहीं यदि हम गलत रास्ते पर जा रहे हों, कुछ न करने से तो वह अच्छा ही है। गाय कभी झूठ नहीं बोलती पर वह सदैव गाय ही बनी रहती है। इसलिये क्रियाशील बनो, कुछ न कुछ करते रहो। चिन्तन करना सीखो नये विचारों को जन्म दो चाहे वे गलत ही क्यों न हों। हमारे पूर्वजों ने इस प्रकार कोई विचार नहीं किया, इसीलिए क्या हम भी घुटनों पर माथा टेककर बैठे रहें और अपनी भावनाशक्ति व विचारशक्ति खो दें? इस अवस्था से तो मृत्यु अधिक श्रेयस्कर है। जीवन का मूल्य ही क्या रहा, यदि धर्म के सम्बन्ध में हमारे अपने कुछ विचार, हमारी अपनी कुछ जीवन्त धारणायें न हों? नास्तिक जन भी हमसे कहीं अच्छे हैं, उनसे कुछ आशायें रखी जा सकती हैं, क्योंकि दूसरों से उनका मतभेद होने पर भी, वे कम से कम खुद कुछ विचार करते हैं। जो स्वयं विचार नहीं करते, उन्होंने अभी धर्म-राज्य में पदार्पण नहीं किया है। वे जेली-फिश * के समान केवल नाममात्र के लिये जीवित हैं। वे स्वयं विचार नहीं करते, वे वास्तव में धर्म का कोई आदर नहीं करते। किन्तु अविश्वासी नास्तिक जिज्ञासु और यत्नशील हैं,

* जेली फिश (Jelly-Fish) एक प्रकार की मछली है जो दिखने में जेली या मुरब्बे के समान है।

वह धर्म की परवाह करता है । उसके लिये प्राणपण से चेष्टा करता है। इसलिये जागो और सोचो। प्राणपण से प्रयत्न कर ईश्वराभिमुख गमन करो। असफलता की चिन्ता न करो, यदि इस प्रकार अपने स्वरूप का चिन्तन करते करते तुम किसी विचित्र सिद्धान्त व मत की सृष्टि कर लो तो भी क्या? यदि तुम्हे भय है कि लोग तुम्हे विचित्र और अजीब कहने लगेंगे, तो अपने सिद्धान्त को अपने तक ही सीमित रखो। दूसरो मे प्रचार करने की कोई आवश्यकता नही। किन्तु चुपचाप मत बैठो, कुछ करो। ईश्वर की ओर यत्नपूर्वक बढो। एक दिन अवश्य तुम्हे प्रकाश के दर्शन होगे एक दिन अवश्य तुम्हारे अधकारपूरित हृदय मे ज्ञान की किरणो का प्रकाश पहुँचेगा। यदि कोई आदमी रोज रोज अपने हाथ से मुझे भोजन कराता रहे, तो कुछ ही दिनो मे मेरे हाथ बेकार हो जायेगे। भेडो की तरह एक दूसरे के पीछे चलने से, आध्यात्मिक मृत्यु अवश्यम्भावी है। निश्चेष्टता का फल ही मृत्यु है। अतएव कार्यशील बनो। और जहाँ क्रियाशीलता है वहाँ विभिन्नता तो होगी ही। विभिन्नता ही जीवन का रस है, विभिन्नता मे ही जीवन का लावण्य है। यही कला का प्राण है, यही जीवन का चिह्न है, यही जीवन-प्रवाह का मूलस्रोत है। फिर इसका भय क्यो?

अब हम इन महापुरुषो का चरित कुछ समझ सकेंगे। इतिहास इस बात का प्रमाण है कि धर्म का नाममात्र आश्रय ले निश्चेष्ट पडे रहने के बदले जहाँ जहाँ यथार्थ मे कुछ चिन्तन किया गया है ईश्वर के प्रति प्रेम व भक्ति की भाव-सरिता प्रवाहित हुई है, वही आत्मा ईश्वर की ओर अग्रसर हुई है और उसे जीवन मे क्षण भर के लिये ही क्यो न हो बीच बीच मे उस

परमवस्तु की झलक मिली है, उसका साक्षात्कार हुआ है। उस समय

"भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशया।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥"*

अर्थात् "हृदय के कुटिल भावो का नाश हो जाता है, सारी शकाये दूर हो जाती है व कर्मो का क्षय हो जाता है, क्योकि उस समय उस परम तत्व के दर्शन हो जाते है जो दूर से भी दूरतम व निकट से भी निकटतम है।" यही यथार्थ धर्म है, यही धर्म का सार है, इसके अतिरिक्त अन्य सब केवल मत-मतान्तर मात्र है, कोरे सिद्धान्त है, उस परम अवस्था तक पहुँचने के भिन्न भिन्न मार्ग है। हम इस अवस्था को, धर्म के इस आदर्श को भूल गये है और केवल उसके बाह्य स्वरूप को लेकर झगड रहे है। टोकनी के फल तो कीचड मे पड गये है, और हम टोकनी को ही सारे झगडो का विषय बना बैठे है।

धर्म पर विवाद करनेवाले दो व्यक्तियो से जरा यह पूछकर देखिये, 'क्या तुमने ईश्वर को देखा है? क्या तुमने उन सब अतीन्द्रिय विषयो का अनुभव किया है जिनके लिये तुम झगड़ रहे हो?' एक व्यक्ति कहता है 'ईसा मसीह ही सच्चा पैगम्बर है।' ठीक है। पर उससे पूछो, 'क्या तुमने ईसा को कभी देखा है? क्या तुम्हारे पिता ने कभी ईसा को देखा था?' 'नही।' 'क्या तुम्हारे पितामह ने ईसा को देखा था?' 'नही।' 'तब तुम विवाद किस बात पर कर रहे हो? फल तो जमीन पर गिर गये है, और तुम टोकनी को लेकर विवाद

* मुण्डकोपनिषत् २—२—८

कर रहे हो।' समझदारो और सभ्य स्त्री-पुरुषो को इस प्रकार झगड़ते हुए शर्म आनी चाहिये।

ये सब पैगम्बर व ईशदूत यथार्थ मे महान् और सच्चे थे। क्यो? क्योकि उनमे से हरएक ने अपने जीवन-काल मे एक एक महान् भाव का एक एक महान् सिद्धान्त का प्रचार किया है। उदाहरण के लिये भारतवर्ष के महान् अवतारो को ही लीजिये। ये धर्म के प्राचीनतम सस्थापक है। पहले हम श्रीकृष्ण का ही जीवन ले। आपमे से जो गीता के पाठक है, वे जानते है कि उस ग्रन्थ का मूल सिद्धान्त है अनासक्ति, उसकी मुख्य शिक्षा है अनासक्त रहो। तुम्हारे हृदय के प्रेम पर केवल एक व्यक्ति का अधिकार है—केवल उसका अधिकार है जो अविकारी और अव्ययी है। वह कौन है? वह केवल ईश्वर ही है। इसलिये अपना हृदय किसी परिवर्तनशील वस्तु या व्यक्ति को समर्पित मत करो, इसका अन्त दुःखमय होगा। यदि तुम किसी व्यक्ति-विशेष को अपना हृदय अर्पित कर देते हो, तो उसकी मृत्यु के पश्चात् सारा ससार तुम्हारे लिये दुःखपूर्ण बन जायगा। आज जिसे अपना अभिन्न मानकर तुम हृदय समर्पित कर चुके हो, सभव है कल उसी से तुम्हारा वैमनस्य हो जाय। जिस पति को तुमने अपना हृदयेश्वर मानकर अपना स्नेह अर्पित किया है, उसे तुमसे उपरति हो जाने पर तुम्हे सिसकियाँ भर-भरकर क्रन्दन करना पड़ेगा। जिस पत्नी को तुमने अपने हृदय-सिंहासन की रानी बना ली है, उसकी मृत्यु हो जाने पर तुम्हारे सुखो का संसार धूल मे मिल जायगा। यही ससार की रीति है। ये पार्थिव सुख क्षणभगुर है, स्वप्नो-से अचिर है। इसलिये श्रीकृष्ण ने गीता मे उपदेश दिया है एकमात्र ईश्वर ही अविकारी

और अपरिणामी है। उसका स्नेह अनन्त और अपरिवर्तनीय है। हम कहीं भी रहें और कुछ भी करें पर उस दयानिधि की दया में कोई अन्तर नहीं आता, उसके स्नेह की सरिता सदैव उसी प्रकार हमारे लिये प्रवाहित होती रहती है। उसमें कभी परिवर्तन नहीं होता, हमारे अधम कार्यों पर भी वह कभी क्रुद्ध नहीं होता। और वह हम पर क्रुद्ध हो भी तो क्यों? तुम्हारा नटखट बच्चा कितनी भी शरारत क्यों न करता हो, पर तुम उस पर कभी नहीं बिगड़ते। हम भविष्य में क्या होनेवाले हैं, कितने महान् होनेवाले हैं यह क्या ईश्वर नहीं जानता? उसे ज्ञात है कि यथाकाल हम सब पूर्णता प्राप्त कर लेंगे। इसलिये हममें सैकड़ों दोष रहने पर भी वह विचलित नहीं होता, उसका धैर्य असीम है। अतएव हमें उससे प्रेम करना चाहिये, प्राणिमात्र को उसका प्रकाश मानकर सबके प्रति स्नेहशील बनना चाहिये। यही गीता की शिक्षा का सार है और इसी को अपने जीवन का मूलमन्त्र मानकर जीवन-पथ पर अग्रसर होना चाहिये। अपनी पत्नी को तुम अपने हृदय में स्थान दो, उससे प्रेम करो, पर पत्नी के लिये नहीं। 'न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति, आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति।' - बृहदारण्यक के इस महान् वाक्य को समझो। 'हे प्रिये, पत्नी को पति प्रिय लगता है, किन्तु वह पति के लिये नहीं। उसका कारण है उसमें वर्तमान अनन्त परमात्मा।'

वेदान्तदर्शन कहता है कि पति-पत्नी के स्नेह-भाव व माता के वात्सल्य में भी, यद्यपि पत्नी सोचती है कि वह अपने स्वामी को प्रेम कर रही है और माँ समझती है कि वह अपने शिशु से

* बृहदारण्यक उपनिषत् ४-५

स्नेह कर रही है, वस्तुत इन दोनो के स्नेह का विषय ईश्वर ही है जो पति और पुत्र दोनो मे अवस्थित है। वही एकमेव आकर्षण है, उसके अतिरिक्त अन्य कोई उनका स्नेह-भाजन नही है। पत्नी और जननी अज्ञानवश नही जानती कि अपने पति व पुत्र से स्नेह करने मे वे केवल ईश्वर को ही प्यार कर रही है, और यह अज्ञान ही भविष्य मे उनके दुख का कारण बन जाता है। ज्ञानपूर्वक किये जाने पर यही कार्य मुक्ति का मार्ग बन जाता है। यही हमारे शास्त्रो का उपदेश है। जहाँ भी प्रेम है, आनन्द का एक बिदु भी वर्तमान है, वही ईश्वर वर्तमान है, क्योकि ईश्वर रसस्वरूप है, प्रेमस्वरूप है, आनन्दस्वरूप है। उसके अभाव मे प्रेम और आनन्द असभव है।

श्रीकृष्ण के उपदेशो का यही भाव है। सारे भारतवर्ष पर, सारी हिन्दू-जाति पर श्रीकृष्ण ने इस उपदेश की एक अमिट छाप छोड दी है। वह उसकी नस नस मे प्रवाहित हो रहा है। जब कोई हिन्दू कोई कार्य करता है, यहाँ तक कि जब वह पानी भी पीता है तो कहता है, "इस कार्य के सभी शुभ फल ईश्वरार्पित है।" किसी सत्कार्य को करते समय एक बौद्ध यही सकल्प करता है कि "इस कार्य के सारे शुभ-फल ससार को प्राप्त हो, और जगत् के दुख व कष्ट मुझे मिले।" हिन्दू कहता है, "मै आस्तिक हूँ, ईश्वरविश्वासी हूँ, और ईश्वर सर्वव्यापी व सर्वशक्तिमान है, सकल आत्माओ की अन्तरात्मा है। इसलिये यदि मै अपने कार्यो का पुण्य, उनके शुभ फल ईश्वरार्पण कर दूँ तो यह सर्वश्रेष्ठ त्याग होगा, क्योकि अन्ततोगत्वा मेरे सत्कार्य, मेरे कार्यो के शुभ फल निश्चित ही सारे ससार को प्राप्त होगे।"

भगवान श्रीकृष्ण के उपदेशो का यह केवल एक पहलू है।

उनकी दूसरी महान् शिक्षा यह है संसार में रहकर जो व्यक्ति कार्य करता है और अपने कार्यों के शुभाशुभ फल ईश्वरार्पित कर देता है वह संसार के पापो से अलिप्त रहता है। जिस भाँति जलज जल मे जन्म लेकर भी जल से अलिप्त रहता है, उसी भाँति ऐसा व्यक्ति भी सांसारिक कर्मों को करते हुए भी, उन्हे ईश्वर को समर्पित कर देने पर दोष-लिप्त नहीं होता।

प्रबल कर्मशीलता, श्रीकृष्ण की एक और महान् शिक्षा है। गीता का उपदेश है कार्य-रत रहो। रात्रन्दिवस कार्य करते रहो।

स्वाभाविक ही यह शका उपस्थित होगी कि निरन्तर कर्म से शान्ति कैसे उपलब्ध होगी? यदि मनुष्य दिवारात्र, आमरण अश्व की भाँति जीवन की गाडी खीचता रहे, और उसे खीचते खीचते ही इहलीला समाप्त कर दे, तो मानव-जीवन का अर्थ और उद्देश तथा मानव-जीवन का मूल्य ही क्या रहा? भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं नही, कर्म-रत व्यक्ति अवश्य शान्ति का अधिकारी बनेगा। कार्यक्षेत्र से पलायन करना शान्ति का पथ नही है। यदि संभव हो तो अपने कर्तव्य-कर्म छोड़ दो तथा किसी पर्वत-शिखर पर जीवन-यापन करो, किन्तु वहाँ भी मन स्थिर नही रहेगा, वहाँ भी वह यत्रवत् भ्रमण करता रहेगा। किसी ने एक बार एक संन्यासी से पूछा था, "आप क्या कोई एकान्त निरुपद्रव स्थान ढूँढने मे सफल हो सके है? आप कितने वर्षों से हिमालय की मनोरम घाटियो मे भ्रमण कर रहे है?" सन्यासी बोले, "चालीस वर्षो से।" तब उस व्यक्ति ने पुन जिज्ञासा की, "भगवन्, हिमालय मे तो निवास करने के लिये अनेक नितान्त सुन्दर स्थल है, तब अब तक आपने क्यों नही किसी स्थान का निर्वाचन किया?" सन्यासी बोले, "वत्स, इन पूरे

चालीस वर्षो मे जब तक मै हिमालय मे वास करता रहा, मेरे मन ने मुझे एक बार भी ऐसा करने की अनुमति नही दी।" हम सभी इसी प्रकार आजीवन शान्ति की शोध मे लगे रहते है, मन मे शान्ति-लाभ करने का सकल्प करते है, पर हमारा मन हमे शान्ति नही लेने देता।

हम सब उस सैनिक की कहानी जानते है जिसने एक बार एक तातार को पकड़ लिया था। एक सैनिक नगर से लौटकर जब शिबिर के समीप आया तो जोर जोर से चिल्लाने लगा "मैने एक तातार को कैद कर लिया है, मैने एक तातार को कैद कर लिया है।" शिबिर मे से कोई बोला, "उसे भीतर ले आओ।" सैनिक ने कहा, "वह भीतर नही आता।" दूसरे सैनिक ने कहा, "तब तुम्ही भीतर आ जाओ।" पहिला सैनिक बोला, "वह मुझे भी भीतर नही आने देता।" हम सब ने उस सैनिक की भाँति अपने अपने मन मे एक एक 'तातार' पकड़ लिया है, और न तो हम स्वय ही उसे वश मे कर सकते है और न वह 'तातार' ही हमे शान्तिपूर्वक जीवन-यापन करने देता है। हमारी दशा भी उस सैनिक की भाँति हो गई है। हम सब शान्त और स्थिर होने का सकल्प करते है। किन्तु यह तो एक शिशु भी कह सकता है और मन मे सोच सकता है कि वह सफल हो जायगा। पर वस्तुत. इसमे कृतकार्य होना अत्यन्त कठिन है। मैने भी ऐसा प्रयत्न किया है। मै अपने कर्तव्यकर्मो को एकदम ही त्यागकर पर्वत-शिखरो की ओर प्रस्थान कर गया। मै गहन गुहाओ व निविड वनो मे निवास करता रहा। पर व्यर्थ, क्योकि मैने भी एक 'तातार' पकड़ लिया था। मेरे विचारो का ससार सर्वत्र और सर्वदा मेरे साथ साथ चल रहा

था। यह 'तातार' हमारे ही मन में निवास करता है, इसलिये हमे अन्य व्यक्तियो पर अपनी शान्ति भग करने का दोषारोपण नही करना चाहिये। हम अपनी बाह्य परिस्थितियो को दोष देकर कहते है——ये परिस्थितियाँ अनुकूल है, ये प्रतिकूल है। पर हम भूल जाते है कि इन सबका कारण है वह 'तातार', जो हमारे ही मानस मे निवास करता है, और उसे वशीभूत कर लेने पर सब ठीक हो जायगा।

इसलिये भगवान श्रीकृष्ण की शिक्षा है कि अपने कर्तव्य-कर्म त्यागकर मत भागो, उनकी उपेक्षा न करो, मनुष्य की भाँति उन्हे पूर्ण करने का यत्न करो व उनके फलाफल की चिन्ता न करो। सेवक को 'क्यो' कहने का क्या अधिकार है? सैनिक को तर्क-वितर्क करने का अधिकार नही। कर्तव्य-पथ पर अग्रसर होते जाओ, और इस बात की चिन्ता न करो कि तुम्हारा कर्तव्य-कर्म बडा है या छोटा। केवल अपने मन से पूछो कि वह नि स्वार्थ भाव से कार्य कर रहा है या नही। यदि तुम यथार्थ मे नि स्पृह हो, तो किसी बात की परवाह न करो, विश्व मे कोई भी तुम्हारा पथावरोध नही कर पायेगा। अपने कर्तव्य मे अपने को डुबा दो जो काम हाथ मे आ जाय उसे करते जाओ। जब तुम इस प्रकार कर्तव्य-रत हो जाओगे तो शनै शनै तुम्हे गीता के इस महान् सत्य की प्रतीति होने लगेगी ——

कर्मण्यकर्म य पश्येदकर्मणि च कर्म य।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्त कृत्स्नकर्मकृत्॥*

अर्थात् "जो प्रबल कर्मशीलता मे शान्ति अनुभव करता है तथा

* गीता ४-१८

प्रबल निस्तब्धता व शान्ति मे कर्मशीलता का दर्शन करता है, वही पूर्ण है, वही योगी है, वही विद्वान् है, वही सिद्ध है।"

अब तुम देखोगे कि श्रीकृष्ण के उपदेशानुसार ससार के सभी कर्तव्य-कर्म पवित्र है। ऐसा कोई काम नही है जिसे निकृष्ट कहा जाय। भगवान श्रीकृष्ण के अनुसार तो सिहासनोपविष्ट सम्राट और सामान्य जन के कर्तव्यो का महत्व समान ही है 'कर्तव्य'-दृष्टि से दोनो मे कोई भेद नही।

अब गौतम बुद्ध के महान् सदेश को सुनिये। अनायास ही उनकी महान् वाणी हृदय मे घर कर लेती है। बुद्ध ने कहा है, "अपनी स्वार्थपूर्ण भावनाओ का उन्मूलन कर दो, स्वार्थपरता की ओर ले जानेवाली सारी बाते नष्ट कर दो। स्त्री-पुत्र-परिवार आदि बन्धनो तथा सासारिक प्रपचो से दूर रहो और सम्पूर्णतया स्वार्थशून्य बनो।" ससारी व्यक्ति मन ही मन नि स्वार्थ बनने का सकल्प करता रहता है, किन्तु पत्नी-मुख अवलोकन करते ही उसका हृदय स्वार्थ से भर जाता है। माँ स्वार्थ-शून्य बनने की इच्छा करती है, पर पुत्र का मुखावलोकन करते ही उसके ये भाव लुप्त हो जाते है। सबकी यही दशा है। ज्योही हृदय मे स्वार्थपूर्ण कामनाओ का उदय होता है, ज्योही व्यक्ति स्वार्थपूर्ण उद्देश्य से कार्य प्रारभ करता है, त्योही उसका मनुष्यत्व, उसका वह गुणविशेष जिसके बल पर वह स्वय को मनुष्य कह सकता है, लुप्त हो जाता है, तब वह पशु बन जाता है, वासनाओ का क्रीत दास बन जाता है। उसे विस्मरण हो जाता है अपने बाधवो का, और अब वह कभी नही कहता कि 'पहले आप और बाद मे मै।' अब उसके मुँह से निकलने लगता है, 'पहले मै और मेरे बाद सब अपना अपना प्रबध कर ले।'

हम देखते हैं कि श्रीकृष्ण की शिक्षा का भी हमारे जीवन में कितना महत्व है। बिना इस सदेश को हृदय मे धारण किये, ससार मे क्षण भर भी शान्त व अकपट भाव से सानन्द कर्तव्यरत रहना असभव हो जायगा। कर्तव्य-पथ पर अग्रसर पुरुष को श्रीकृष्ण के उपदेश का एक एक शब्द निर्भीक बनाता रहता है। श्रीकृष्ण कहते हैं—

सहज कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृता ॥ *

अर्थात् कर्तव्य-कर्म मे कोई दोष होने पर भी भयभीत हो उन्हे त्याग नही देना चाहिये, क्योकि ससार मे ऐसा कोई कार्य नही है जो सर्वदा दोषमुक्त हो।

" ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सग त्यक्त्वा करोति य । " +

" अपने कर्मो को ईश्वर को समर्पित कर दो और उनके फलो की चिन्ता न करो। "

दूसरी ओर भगवान बुद्ध की अमृतमयी वाणी भी कम हृदयग्राहिणी नही है। ऐसा कौन पाषाणहृदय है जो बुद्ध की इस वचनावली से प्रभावित न होगा ? जग क्षणभगुर व दुखमय है। समय तीव्र गति से व्यतीत होता जा रहा है। अपने आमोदपूर्ण जीवन से सन्तुष्ट, अपने सुन्दर प्रासादो मे मनोरम वस्त्राभूषणो से विभूषित हो, अनेकविध भोज्यपदार्थो से अपनी जिह्वा को तुष्ट करनेवाले हे मोहनिद्राभिभूत नर-नारियो, क्या जीवन मे तुमने कभी दाने दाने के लिये मुहताज उन लक्ष लक्ष नर-ककालो की भी कोई चिन्ता की है जो भूख से तड़प-तडपकर दम तोड़

* गीता १८—४८
+ गीता—५—१०

देते हैं ? जरा सोचो, जगत् के इस महासत्य पर विचार करो, 'सर्व दुःखमनित्यमध्रुवम्' संसार में चारों ओर दुःख ही दुःख है। देखो, संसार में पदार्पण करता हुआ शिशु भी वेदना-पूर्ण रुदन करने लगता है। यह एक हृदय-विदारक सत्य है। इस दुःखमय जगत् में जन्म लेते ही वह क्रन्दन करने लगता है। संसार में रुदन के सिवा है क्या ? संसार एक रुदनस्थल है। इसलिये यदि हम तथागत के शब्दों को हृदय में स्थान देना चाहते हैं तो हमें सम्पूर्ण रूप से स्वार्थ-शून्य होना होगा।'

अब तनिक नाजरथनिवासी ईश-दूत ईसा के उपदेशों को देखिए। उनकी शिक्षा है, "प्रस्तुत रहो, स्वर्गराज्य अत्यन्त समीप है।" मैंने श्रीकृष्ण के उपदेशों का मनन किया है, मैं अनासक्त होकर कर्म-मार्ग पर अग्रसर होने का यत्न भी करता हूँ, किन्तु कभी कभी इन उपदेशों को भूलकर मैं मोहाभिभूत हो जाता हूँ। तब इस मोहनिद्रा में हठात् तथागत की अमृत-मयी वाणी हृदय में झंकृत हो उठती है "सावधान! संसार के सकल पदार्थ नश्वर हैं। संसार दुःखमय है। सर्वदुःखमनित्यम-ध्रुवम्।" मैं सुनकर कुछ सँभलता हूँ, पर मेरे हृदय में यह विवाद उठ खड़ा होता है कि मैं कृष्ण और बुद्ध में से किसका अनुगमन करूँ। तब मेरे कानों में ईसा की यह महान् घोषणा गूँजने लगती है, "प्रस्तुत रहो, स्वर्गराज्य अत्यन्त समीप है। एक क्षण का भी विलम्ब न होने दो। कल पर कुछ न छोड़ो और उस महान् व परम अवस्था के लिये सदा प्रस्तुत रहो, वह तुम्हारे निकट किसी भी क्षण उपस्थित हो सकती है।" ईसा के इस संदेश का भी हमारे हृदय में उच्च स्थान है। हम आदरपूर्वक इस उपदेश को शिरोधार्य करते हैं और प्रणाम करते हैं उस महान्

अवतार को, ईश्वर के उस विग्रह-रूप को, जिसने दो सहस्त्र वर्ष पूर्व मानवजाति को प्रेम व सदाचार की शिक्षा दी थी।

इसके पश्चात् हमारी दृष्टि समानता के उस महान् सदेश-वाहक पैगम्बर मुहम्मद साहब की ओर जाती है। शायद तुम पूछोगे कि उनके धर्म मे क्या अच्छाई है? पर यदि उसमे अच्छाई न होती तो वह अद्यापि जीवित कैसे रह पाता? जो अच्छा है, कल्याणकर है वही इस ससार मे जीवित रह सकता है, शेष सब कुछ विनाश के अनन्त गह्वर मे प्रवेश कर जाता है। जो कल्याणकर है, वही सबल और दृढ़ है, और इसलिये वही अनन्त जीवन का भी अधिकारी होता है। इस जीवन मे भी अपवित्र और दुराचारी का जीवनकाल कितना होता है? क्या पवित्र साधु व्यक्ति उससे दीर्घायु नही होता? निश्चित, क्योकि साधुता ही शक्ति है, पवित्रता ही बल है। यदि इस्लाम मे कोई अच्छाई, कोई शुचिता न होती तो वह आज तक जीवित कैसे रह पाता? नही, इस्लाम मे यथेष्ट अच्छाई है। पैगम्बर मुहम्मदसाहब दुनिया मे समता, बराबरी के सदेश-वाहक थे वे मानव-जाति मे, मुसलमानो मे भ्रातृ-भाव के प्रचारक थे।

इस प्रकार हम देखते है कि हर अवतार, हर पैगम्बर ने दुनिया को एक न एक महान् सत्य का सदेश दिया है। जब हम उस सदेश का मनन करते है और तत्पश्चात् उसके प्रचारक महापुरुष की जीवनी का अवलोकन करते है तो उस सत्य के प्रकाश मे उसका सारा जीवन व्याख्यात दिखाई पड़ता है। महापुरुषो के ये शब्द उनके जीवन की सबसे बडी व्याख्या है, उनके प्रकाश मे उनके जीवन की एक एक घटना का महत्व प्रकट होने लगता है।

अज्ञ व बुद्धिहीन व्यक्ति अनेकविध मतमतान्तरो की

कल्पना करते हैं और अपने मानसिक विकास के अनुसार, अपनी कल्पनाओं का समर्थन करनेवाली कई व्याख्याये आविष्कृत कर इन महापुरुषो पर आरोपित कर देते हैं। उनकी महान् शिक्षाओ को लेकर वे उन पर अपने मतानुसार भ्रान्त व्याख्याये करने लगते है। किन्तु हरएक महापुरुष की जीवनी ही उसके उपदेशो का एकमात्र भाष्य है। किसी भी महान् आचार्य के जीवन का अवलोकन करो, उसके कार्य उसके उपदेशो का अर्थ स्पष्ट करने लगते हैं। गीता को ही पढ़कर देखो, तुम्हे कृष्ण के जीवन व गीता के एक एक शब्द मे सामञ्जस्य दिखेगा।

पैगम्बर मुहम्मदसाहब ने अपने जीवन के दृष्टान्त से यह दिखला दिया कि मुसलमान-मात्र मे सम्पूर्ण साम्य व भ्रातृभाव रहना चाहिये। उनके धर्म मे जाति, मतामत, वर्ण, लिंग आदि पर आधारित भेदो के लिये कोई स्थान न था। तुर्किस्तान का सुल्तान आफ्रिका के बाजार से एक हब्शी गुलाम खरीदकर उसे शृंखला-बद्ध कर अपने देश मे ला सकता है। किन्तु यदि यही गुलाम इस्लाम को अपना ले और उपयुक्त गुणो से विभूषित हो, तो उसे तुर्की की शाहजादी से निकाह करने का भी हक मिल जाता है। मुसलमानो की इस उदारता के साथ जरा इस देश (अमेरिका) मे हब्शियो (निग्रो) व रेड इडियन लोगो के प्रति किये जानेवाले घृणापूर्ण व्यवहार की तुलना तो कीजिये ! हिन्दू भी और क्या करते है? यदि आपके देश का कोई धर्म-प्रचारक (मिशनरी) भूलकर किसी 'सनातनी' हिन्दू के भोजन को स्पर्श कर ले, तो वह उसे अशुद्ध कहकर फेक देगा। हमारा दर्शन उच्च और उदार होते हुए भी हमारा व्यवहार, हमारा आचार हमारी कितनी दुर्बलता का परिचायक है! किन्तु अन्य

धर्मावलम्बियों की तुलना में हम इस दिशा में मुसलमानों को अत्यन्त प्रगतिशील पाते हैं। जाति या वर्ण का विचार न कर, सबके प्रति समान भाव बंधुभाव का प्रदर्शन – यही इस्लाम की महत्ता है, इसी में उसकी श्रेष्ठता है।

क्या संसार में और भी अवतार-पुरुष जन्म ग्रहण कर पृथ्वीतल को पवित्र करेंगे? निश्चय ही अन्य व श्रेष्ठतर महापुरुष धरा पर अवतीर्ण होंगे। किन्तु उनके आगमन की प्रतीक्षा में मत बैठे रहो। मैं तो यह पसंद करूँगा कि आपमें से हरएक व्यक्ति सब प्राचीन संहिताओं की समष्टि-स्वरूप इस यथार्थ नव-संहिता के आचार्य बनें। प्राचीन काल के विभिन्न अवतारों के समस्त संदेशों को आत्मसात् कर उन्हें अपनी अनुभूति, अपनी उपलब्धि के योग से पूर्ण बना लो और इस अंधकाराच्छन्न युग के, इस त्रस्त मानवजाति के मसीहा बन जाओ। ये सभी अवतार महान् हैं, प्रत्येक ने हमारे लिये कुछ न कुछ वसीयत छोड़ी है, वे हमारे ईश्वर हैं। हम उनके चरणों में प्रणाम करते हैं, हम उनके क्षुद्र किंकर हैं। किन्तु इसके साथ साथ हम स्वयं को भी नमस्कार करते हैं, क्योंकि यदि वे ईश्वरतनय और अवतार हैं – तो हम भी वही हैं। उन्होंने अपनी पूर्णता पहले प्राप्त कर ली है, और हम भी यहीं और इसी जीवन में पूर्णता प्राप्त कर लेंगे। ईसा के शब्दों का स्मरण करो, 'स्वर्ग-राज्य निकट ही है।' इसलिये इसी क्षण हम-सबको यह दृढ़ संकल्प कर लेना चाहिये कि "मैं पैगम्बर बनूँगा, मानवजाति का मसीहा बनूँगा, मैं ज्योति स्वरूप भगवान का संदेशवाहक बनूँगा—मैं ईश्वर-तनय बनूँगा – नहीं, मैं स्वयं ईश्वरस्वरूप बनूँगा।"

ईशदूत ईसा

सागर मे एक ओर जहाँ उत्तुग तरगों का नर्तन होता है, दूसरी ओर एक अथाह खाई भी होती है। उच्च तरंग उठती है और विलीन होती है। फिर एक प्रबलतर तरग उठती है, मुहूर्तमात्र मे उसका पतन होता है और पुन उत्थान भी। इसी प्रकार तरग पर तरग सागर के वक्ष पर अग्रसर होती रहती है। विश्व के घटना-प्रवाह मे भी निरन्तर इसी प्रकार का उत्थान और पतन होता रहता है किन्तु हमारा ध्यान केवल उत्थान की ओर जाता है, हमे पतन का विस्मरण हो जाता है। पर विश्व की गति के लिये दोनो ही आवश्यक है दोनो ही महत्वपूर्ण है। यही विश्व-प्रवाह की रीति है।

हमारे मानसिक, पारिवारिक, सामाजिक और आध्यात्मिक जगत् मे, सर्वत्र यही क्रम-गति, यही उत्थान-पतन चल रहा है। उसी प्रकार विश्वप्रवाह में उच्चतम कार्य, उदार आदर्श समय समय पर जन्म लेते है व जनसमूह की दृष्टि आकर्षित कर विलीन हो जाते है - मानो वे अतीत के भावो का परिपाक कर रहे हो, मानो प्राचीन आदर्शो का रोमन्थन करने को वे अदृश्य हो गये हो, जिससे ये भावसमूह, ये आदर्श, समाज मे अपना योग्य स्थान पा ले, समाज के एक एक अग के रुधिर-बिन्दु मे उनका प्रवेश हो जाय और पुन एक प्रबल व उच्चतर उत्थान के लिये वे शक्तिसचय कर ले।

दुनिया के राष्ट्रो के इतिहास मे भी यही गति दृग्गोचर होती है। इस महान् आत्मा का, इस ईशदूत ईसा का, जिसकी जीवन-गाथा पर आज विवेचन किया जायगा, अपनी जाति के

इतिहास के एक ऐसे युग मे आविर्भाव हुआ था जिसे पतन-काल कहने मे अत्युक्ति न होगी। उनके उपदेश और कार्यकलाप के किञ्चित् लिपिबद्ध विवेचनो की हमे यत्र-तत्र कुछ झलक मात्र ही मिलती है, यह सच ही कहा गया है कि उस महापुरुष के उपदेश और कर्मवीरता की सब गाथाये यदि लिपिबद्ध की जाती तो सारा विश्व उनसे व्याप्त हो जाता। उनके धर्म-प्रचार-काल के तीन वर्षो मे मानो एक पूर्ण युग की घटनाओ का एकत्र समावेश हुआ था जिसके प्रकट होने मे पूरी उन्नीस शताब्दियाँ लग गई है, और न जाने और कितने वर्ष लगेगे। मेरे और तुम्हारे जैसे क्षुद्र जन केवल क्षुद्र शक्ति के आधार है। कुछ क्षण, कुछ घटिकाये, कतिपय मास, ज्यादा से ज्यादा कुछ वर्ष बस ये उस क्षुद्र शक्ति के व्यय के लिये, उसके पूर्ण प्रसरण और अधिकतम विकास के लिये पर्याप्त है, और उसके बाद हममे कुछ भी शक्ति अवशिष्ट नही रहती। किन्तु हमारे इन आलोच्य महाशक्तिधर पुरुष की ओर जरा देखिये। कई शताब्दियाँ बीत गई, किन्तु वे जगत् मे जिस शक्ति का सचार कर गये उसका प्रसार-कार्य अभी तक रुका नही, उसका पूर्ण व्यय अभी तक हुआ नही। ज्यो ज्यो युग पर युग बीतते जा रहे है त्यो त्यो वह नूतन बल से बलवती होती जा रही है।

आज हम ईसा की जीवनी मे सपूर्ण अतीत का इतिहास देखते है। वैसे तो हर सामान्य मानव का जीवन भी उसके अतीत भावसमूह का इतिहास ही है। समूची जाति का यह अतीत भावसमूह प्रत्येक व्यक्ति में आनुवशिकता, वातावरण, शिक्षा व पूर्व जन्म के सस्कारो द्वारा आता ही रहता है। एक प्रकार से हमारे इस जगत् की, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की इतिकथा

हरएक जीवात्मा मे विद्यमान है। हमारा आज का वर्तमान रूप उस अनन्त अतीत के एक क्षुद्र कार्य और फल के अतिरिक्त और क्या है? अनन्त घटना-प्रवाह मे अनिवार्यतया अविराम रूप से अग्रसर होनेवाली, स्थिर रहने मे असमर्थ, छोटी छोटी उर्मियो के अतिरिक्त हम और क्या है? मै और तुम जलप्रवाह मे केवल क्षुद्र बुदबुद है। विश्व-व्यापार के महासागर मे कुछ विशाल तरगे रहती ही है। मेरे और तुम्हारे जैसे क्षुद्र जनो मे अतीत के भाव-समूह का अति अल्प अश ही व्यक्त होता है। किन्तु ऐसे शक्तिसम्पन्न महापुरुष भी होते है जो प्राय सपूर्ण अतीत के साकारस्वरूप होते है और जो मानो अपने दीर्घ प्रसारित बाहुओ से सुदूर भविष्य की सीमाओ को भी स्पर्श करते रहते है। ये महापुरुष मानवजाति के उन्नतिपथ पर यत्र-तत्र स्थापित मार्ग-दर्शक स्तम्भो के समान है। वे सचमुच इतने महान् है कि उनकी छाया मानो समस्त पृथ्वी को आच्छन्न कर लेती है, वे अमर, अनन्त और अविनाशी है। इसी महापुरुष ने कहा है, 'किसी भी व्यक्ति ने ईश्वर-पुत्र के माध्यम बिना ईश्वर का साक्षात्कार नही किया है।' और यह कथन अक्षरश सत्य है। ईश्वर-तनय के अतिरिक्त हम ईश्वर को और कहाँ देखेगे? यह सच है कि मुझमे और तुममे, हममे से निर्धन से भी निर्धन और हीन से भी हीन व्यक्ति मे भी परमेश्वर विद्यमान है, उसका प्रतिबिम्ब मौजूद है। प्रकाश की गति सर्वत्र है, उसका स्पन्दन सर्वव्यापी है, किन्तु हमे उसे देखने के लिये दीप जलाने की आवश्यकता होती है। जगत् का सर्वव्यापी ईश भी तब तक दृष्टिगोचर नही होता, जब तक ये महान् शक्तिशाली दीपक, ये ईशदूत, ये उसके सन्देशवाहक और अवतार, ये नर-नारायण उसे अपने मे प्रतिबिम्बित नही करते।

हम सबको ईश्वर के अस्तित्व मे विश्वास है, फिर भी हम उसे देख नही पाते, उसे समझ नही पाते। ईश्वर के इन सब महान् ज्ञानज्योति सम्पन्न अग्रदूतों मे से आप किसी एक की ही जीवन-कथा लीजिये और ईश्वर की जो उच्चतम भावना आपने हृदय मे धारण की है, उससे उसके चरित्र की तुलना कीजिये। आपको प्रतीत होगा कि इन जीवित और जाज्वल्यमान आदर्श महापुरुषो के चरित्र की अपेक्षा आपकी भावनाओ का ईश्वर अनेकाश मे हीन है, ईश्वर के अवतार का चरित्र आपके कल्पित ईश्वर की अपेक्षा कही अधिक उच्च है। आदर्श के विग्रह-स्वरूप इन महापुरुषो ने ईश्वर की साक्षात् उपलब्धि कर, अपने महान् जीवन का जो आदर्श, जो दृष्टान्त हमारे सम्मुख रखा है, ईश्वरत्व की उससे उच्च भावना धारण करना असम्भव है। इसलिये यदि कोई इनकी ईश्वर के समान अर्चना करने लगे, तो इसमे क्या अनौचित्य है? इन नर-नारायणो के चरणाम्बुजो मे लुण्ठित हो यदि कोई उनकी भूमि पर अवतीर्ण ईश्वर के समान पूजा करने लगे, तो क्या पाप है? यदि उनका जीवन हमारे ईश्वरत्व के उच्चतम आदर्श से भी उच्च है तो उनकी पूजा करने मे क्या दोष? दोष की बात तो दूर रही, ईश्वरोपासना की केवल यही एक विधि सम्भव है। आप कितना ही प्रयत्न करे, पुन पुन सूक्ष्म से सूक्ष्म विषयो पर मनन करे, पर जब तक आप इस मानव-जगत् मे, मानव-देह मे अवस्थित है, नरभावापन्न है तब तक आपका विश्व मानवी होगा, आपका धर्म मानवी होगा और आपका ईश्वर भी मानवी होगा। उसका अन्यथा होना असम्भव है। कौन इतना निर्बुद्धि है, जो प्रत्यक्ष साक्षात् वस्तु का ग्रहण न कर, कल्पनाओ के पीछे दौड़ता

फिरेगा, उन भावनाओ के साक्षात्कार के लिए खाक छानता फिरेगा जिनकी धारणा करना भी कठिन है और जिन तक किसी स्थूल माध्यम की सहायता बिना पहुँचना सर्वथा असभव है ? इसीलिये ईश्वर के इन अवतारो की सभी युगो व सभी देशो मे पूजा होती रही है।

अब हम यहूदियो के पैगम्बर, ईसा मसीह के जीवन का कुछ विवेचन करेगे। विविध जातियो के इतिहास मे हमे उत्थान और पतन का क्रम दृष्टिगत होता है। ईसा का जन्म एक ऐसे युग मे हुआ जिसे हम यहूदी जाति का पतनकाल कह सकते है—एक ऐसा युग जब व्यक्तियो की विचार-शक्ति कुछ शिथिल हो जाती है और वे अतीत के सपनो के नीड़ मे विश्राम करने लगते है, जीवन-प्रवाह स्थिर होकर उसमे बदबू पैदा होने लगती है, विचार सकुचित होने लगते है, जीवन व जगत् की महान् समस्याये दृष्टि से ओझल हो जाती है और जाति ने पूर्वकाल मे जो उपार्जित किया है उसी का वह क्लान्त होकर चर्वण और रक्षण करती रहती है। साराश मे यह अवस्था दो तरगो के उत्थान के बीच की पतनावस्था के समान ही थी। ध्यान रहे कि मै इस अवस्था मे कोई दोष नही देखता। हमे इसकी निन्दा करने का कोई अधिकार नही, क्योकि यदि यहूदी जाति के इतिहास मे यह अवस्था न आती, तो इसके परवर्ती उत्थान की जिसका नाजरथवासी ईसा मूर्त-स्वरूप थे—कोई सम्भावना न रहती। भले ही फैरिसी* व सैड्युसी लोग कपटशील रहे

* फैरिसी (Pharisee) यह धर्म-सम्प्रदाय ईसा मसीह के आविर्भाव के समय अस्तित्व में था। इस सम्प्रदाय के लोग धर्म के यथार्थ तत्व की अपेक्षा बाह्य अनुष्ठानों को ही अधिक महत्व देते थे।

हो, अनैतिक व अधर्मचारी रहे हो, ऐसे कार्यों मे रत रहे हों जो उन्हे नही करने चाहिये थे, किन्तु उनके इन्ही कार्यों की फलोपपत्ति ईसा का महान् व दिव्य जीवन है। जिस शक्ति को एक छोर पर फैरिसी व सैड्युसी * लोगो ने गति प्रदान की, वही दूसरे छोर पर नाजरथ-निवासी महामनीषी ईसा के रूप मे प्रकट हुई।

कई बार बाह्य धार्मिक क्रियाकलापो, रीतियो व छोटे-मोटे विवरणो का उपहास किया जाता है, किन्तु उनमे धर्म-जीवन की शक्ति निहित रहती है। कई बार प्रगति-पथ पर अग्रसर होने के लिए जल्दबाजी करने से हम अपनी धर्म-शक्ति खो बैठते है। देखा जाता है कि साधारणत उदारमना व्यक्ति की अपेक्षा धर्मान्ध व्यक्ति का मनोबल अधिक होता है। इसलिए धर्मान्ध पुरुष मे भी एक बड़ा गुण है। वह अपने मे मानो महान् शक्ति-राशि सचित रखता है।

व्यक्ति के समान जाति मे भी इसी प्रकार शक्ति-सचय होता है। चारो ओर बाह्य शत्रुओ से घिरी हुई, रोमन जाति के पराक्रम से प्रताड़ित हो एक केन्द्र मे सन्निबद्ध, बौद्धिक जगत् मे यूनानी भाव-समूह द्वारा तथा फारस, भारत व अलेक्ज़ान्ड्रिया से आनेवाली भाव-लहरियो से विताड़ित यह जाति प्रबल मानसिक, शारीरिक व नैतिक शक्तियो से परिवेष्टित होने के कारण प्रचण्ड, स्वाभाविक व स्थितिशील शक्ति का आगार हो गई जो अब भी उसके वशधरो मे लुप्त नही हुई है। बाध्य होकर इस जाति को अपनी सपूर्ण शक्ति जेरूसलेम व यहूदी धर्म पर केन्द्रित करनी

* सैड्युसी (Sadducee) इसी समय का एक यहूदी सम्प्रदाय। ये अभिजातवर्ग के थे और सन्देहवादी थे।

पड़ी, और शक्ति की यह प्रकृति है कि एक बार सचित होने पर फिर वह एक स्थान मे अधिक समय तक नही रह सकती, वह अपना प्रसार कर अपने को नि शेष करने लगती है। पृथ्वी मे ऐसी कोई शक्ति नही है जो दीर्घ काल तक एक सीमित स्थान मे बन्दी बनाई जा सके। यह कहकर कि सुदूर भविष्य मे उसका प्रसार हो जायगा, उसे एक स्थान मे अति दीर्घ काल तक सकुचित कर रखना असभव है। यहूदी जाति की यह केन्द्रित शक्ति भी परवर्ती युग मे ईसाई धर्म के उत्थान के रूप मे प्रकट हुई। विभिन्न दिशाओ से आनेवाले क्षुद्र स्रोतो ने मिल-मिलकर एक स्रोतस्वती का निर्माण किया और क्रमश. उन्होने एक तरगशालिनी, वेगवती महानदी का रूप धारण कर लिया। इसी विशाल प्रवाह की एक उच्च तरग के शिखर पर हम नाजरथ-निवासी ईसा को अधिष्ठित पाते है। इस प्रकार सभी महापुरुष अपने युग के घटनाचक्र के फल या कार्यस्वरूप है, उनकी जाति का अतीत ही उनका निर्माण करता है, किन्तु वे स्वय अपनी जाति के भविष्य का सृजन करते है। आज का कार्य अपने पूर्ववर्ती कारणसमूह का फल और भावी कार्य का कारण है। हमारे आलोच्य महापुरुष पर भी यही सिद्धान्त घटता है। ईशदूत ईसा मसीह उस सबका साकार स्वरूप है जो उनकी जाति मे श्रेष्ठ और उच्च है, जाति के उस जीवनोद्देश्य का मूर्तरूप है जिसकी सिद्धि के लिये जाति ने शत शत युगो तक सघर्ष किया है, और वे स्वय केवल अपनी ही जाति के नही, अपितु असख्य जातियो के भावी जीवन का शक्ति-स्रोत है।

और एक बात हमे यहाँ स्मरण रखनी चाहिये इस महान् पैगम्बर पर मेरा विवेचन प्राच्य दृष्टिकोण से होगा।

की आकाक्षा है, किन्तु उनके इन भावो की परिधि विशाल और विस्तृत है। एशिया मे आज भी जन्म, वर्ण या भाषा के भेद पर जातियो का सघटन आधारित नही है। जातियाँ धर्म पर आधारित है। इस प्रकार सब ईसाइयो की जाति एक होगी, सब मुसलमान एक ही जाति के होगे और इसी प्रकार सब बौद्ध व हिन्दू भी एक एक जाति के होगे। चीन-निवासी एक बौद्ध फारस मे रहनेवाले दूसरे बौद्ध को अपना भाई मानता है, अपनी ही जाति का अग समझता है ... केवल इसीलिये कि उन दोनो का धर्म एक है। धर्म ही मानवजाति को एक सूत्र मे बाँधता है, वही एक सम्मिलनभूमि है जहाँ विविध देशो के लोग अपने भेदभाव भूलकर परस्पर गले लगते है। और फिर इसी कारण एशियावासी, ये प्राची के निवासी जन्म-जात स्वप्नद्रष्टा होते है, स्थूल जगत् की अपेक्षा उसके परे किसी सूक्ष्म जगत् का चिन्तन करना अधिक पसद करते है। जलप्रपातो पर नाचती हुई लहरियाँ, खगकुल का कलरव, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र-तारा-ग्रह-सकुला रात्रि, निसर्ग आदि का सौन्दर्य उन्हे मनोरम प्रतीत होता है, इसमे कोई सन्देह नही, किन्तु प्राच्य मन के लिये यह पर्याप्त नही है। वह वर्तमान और इहलोक के धरातल को छोड़, किसी अतीत के सपनो का सृजन करता है, किसी अतीन्द्रिय सौन्दर्य को खोजता है। वर्तमान, प्रत्यक्ष और दृश्य जगत् मानो उसके लिये कुछ है ही नही। युगो से प्राची कई जातियो के जीवन का रगमच रही है, उसने न मालूम नियति-चक्र के कितने परिवर्तन देखे है। उसने एक राज्य के बाद दूसरे राज्य को, एक साम्राज्य के बाद दूसरे साम्राज्य को अभ्युदित होते, उठते और फिर गिरकर मिट्टी मे मिलते देखा है, मानवीय शक्ति, प्रभुत्व, ऐश्वर्य और धनराशि को अपने

कदमो मे लुढकते और निछावर होते देखा है। अनन्त विद्या, असीम शक्ति व अनेकानेक साम्राज्यो की विशाल समाधि-भूमि यह है प्राच्य भूमि का परिचय। कोई आश्चर्य नही, यदि प्राची के निवासी इहलोक की वस्तुओ को तिरस्कार के साथ देखे, और स्वभावत. किसी ऐसी वस्तु के दर्शन की चिर अभिलाषा उनके हृदय मे अकुरित हो जाय जो अपरिवर्तनशील हो, जो अविनाशी हो, जो इस विनाशशील व दुखपूर्ण जगत् मे अमर व नित्य आनन्दपूर्ण हो। प्राची के महापुरुष इन आदर्शो की घोषणा करते कभी नही थकते और जहाँ तक महापुरुषो व अवतारो का प्रश्न है, आपको स्मरण होगा कि उनमे से सभी, बिना किसी अपवाद के प्राच्यदेशीय है।

इसलिये हम अपने आलोच्य महापुरुष, जीवन के इस दिव्यसदेशवाहक के जीवन का मूलमत्र यही पाते है कि "यह जीवन कुछ नही है, इससे भी उच्च कुछ और है" और इस इन्द्रियातीत तत्व को अपने जीवन मे परिणत कर उसने यह परिचय दिया है कि वह प्राची का सच्चा पुत्र है। पाश्चात्य देशो के निवासी भी अपने कार्यक्षेत्र मे सामरिक, राजनीतिक आदि कार्यो के सचालन मे अपनी दक्षता व व्यावहारिकता का परिचय देते है। शायद, पूर्व का निवासी इन सब कार्यो मे इतना कर्तृत्वपूर्ण नही है, किन्तु अपने निज के क्षेत्र मे वह भी कार्यदक्ष है अपने जीवन को अपने धर्म पर आधारित करने मे उसने भी अपनी व्यवहार-कुशलता दिखाई है। यदि वह आज किसी दर्शन का प्रचार करता है, तो देखा जायगा कि कल ही सैकड़ो नर-नारी अपने जीवन मे उसकी उपलब्धि करने का जी-तोड़ प्रयत्न कर रहे है। यदि कोई व्यक्ति

उपदेश करता है कि एक पैर पर खड़े रहने से मुक्ति संभव है, तो उसे अल्पकाल में ही एक पैर पर खड़े होनेवाले सैकड़ों अनुयायी मिल जाएँगे। शायद आप इसे हास्यास्पद समझते हों, किन्तु आप यह स्मरण रखें कि इसके पीछे उनके जीवन का यह मूलमंत्र, उनका यह दर्शन विद्यमान है कि धर्म केवल विचार व मनन की वस्तु नहीं, जीवन में उसकी उपलब्धि व परिणति की जानी चाहिये। पाश्चात्य देशों में मुक्ति के जो विविध उपाय निर्दिष्ट किये जाते हैं वे केवल बौद्धिक कलाबाजियाँ मात्र हैं और कभी भी उन्हें कार्यरूप में परिणत करने का प्रयत्न नहीं किया जाता। पश्चिम में जो प्रचारक अच्छा वक्ता है, वही श्रेष्ठ धर्मोपदेष्टा मान लिया जाता है।

अतएव, हम देखते हैं कि प्रथमतः नाजरथनिवासी ईसा पूर्व की सच्ची संतान थे—धर्म के क्षेत्र में अत्यन्त व्यावहारिक थे। उन्हें इस नश्वर जगत् व उसके क्षणभंगुर ऐश्वर्य में विश्वास नहीं था। शास्त्रवाक्यों को तोड़-मरोड़कर व्याख्या करने की, जो कि आजकल पाश्चात्य देशों में प्रथा-सी हो गई है, कोई आवश्यकता नहीं। शास्त्रवाक्य कोई रबर-से लचीले नहीं हैं कि उन्हें जिधर चाहो उधर खींच लो और मरोड़ लो, और फिर खींचने-मरोड़ने की भी तो एक सीमा है। शास्त्रों का जो अर्थ नहीं है वह कितनी भी खींचातानी करने पर भी कैसे निकलेगा? धर्म को वर्तमान-कालीन इन्द्रिय-सर्वस्वता का समर्थक बनाना बंद कर देना चाहिये। कम से कम हमें अपने प्रति तो सच्चे व अकपटी बनने का प्रयत्न करना चाहिये। यदि हम आदर्श का अनुगमन नहीं कर सकते तो अपनी दुर्बलता स्वीकार कर लें, पर उसे हीन न बनायें, उसे अपने उच्च धरातल से न गिरायें।

पश्चिम के लोग, ईसा के चरित्र पर जो नित्य नये नये व विभिन्न विवेचन प्रकाशित कर रहे हैं, उनसे हृदय अवसन्न हो जाता है। इन वर्णनों से इस बात का लेश मात्र भी ज्ञान नही होता कि ईसा क्या थे और क्या नही। एक उन्हे महान् राजनीतिज्ञ बताता है, तो दूसरा कहता है ईसा एक बड़े युद्ध-विशारद सेनापति थे और तीसरा कहता है, वे एक देशभक्त यहूदी थे। इन सब धारणाओ के लिये क्या इन पुस्तको मे कोई आधार है? एक श्रेष्ठ धर्माचार्य के जीवन और उपदेशो पर सर्वश्रेष्ठ भाष्य उसका निज का जीवन ही है। स्वय ईसा ने अपने विषय मे कहा है: "लोमड़ियो व शृगालो के एक एक माँद होती है, नभचारी खगकुल अपने नीड़ मे निवास करते है, पर मानवपुत्र (ईसा) के पास अपना सिर टेकने के लिये कोई स्थान तक नही है।" ईसा स्वय त्यागी व वैराग्यवान थे, इसलिये उनकी शिक्षा भी यही है कि वैराग्य व त्याग ही मुक्ति का एकमेव मार्ग है, इसके अतिरिक्त मुक्ति का और कोई पथ नही है। यदि हममे इस मार्ग पर अग्रसर होने की क्षमता नही है, तो हमे मुख मे तृण धारण कर विनीत भाव से अपनी यह दुर्बलता स्वीकार कर लेनी चाहिये कि हममे अब भी 'मै' और 'मेरे' के प्रति ममत्व है, हममे धन और ऐश्वर्य के प्रति आसक्ति है। हमे धिक्कार है कि हम यह सब स्वीकार न कर, मानवजाति के उन महान् आचार्य का अन्य रूप से वर्णन कर उन्हे निम्न-स्तर पर खीच लाने की चेष्टा करते है। उन्हे पारिवारिक बधन नही जकड़ सके। क्या आप सोचते है कि ईसा के मन मे कोई सासारिक भाव था? क्या आप सोचते है कि यह ज्ञानज्योति स्वरूप अमानवी मानव, यह प्रत्यक्ष ईश्वर पृथ्वी पर पशुओ का समधर्मी

बनने के लिये अवतीर्ण हुआ? किन्तु फिर भी लोग उनके उप-देशो का अपनी इच्छानुसार अर्थ लगाकर प्रचार करते है। उन्हे देह-ज्ञान नही था, उनमे स्त्री-पुरुष भेदबुद्धि नही थी—वे अपने को लिंगोपाधिरहित आत्मास्वरूप जानते थे। वे जानते थे कि वे शुद्ध आत्मास्वरूप है—देह मे अवस्थित हो मानवजाति के कल्याण के लिये देह का परिचालन मात्र कर रहे है। देह के साथ उनका केवल इतना ही सम्पर्क था। आत्मा लिंगविहीन है। विदेह आत्मा का देह व पाशवभाव से कोई सम्बन्ध नही होता। अवश्यमेव त्याग व वैराग्य का यह आदर्श साधारणजनो की पहुँच के बाहर है। कोई हर्ज नही, हमे अपना आदर्श विस्मृत नही कर देना चाहिये उसकी प्राप्ति के लिये सतत यत्नशील रहना चाहिये। हमे यह स्वीकार कर लेना चाहिये कि त्याग हमारे जीवन का आदर्श है किन्तु अभी तक हम उस तक पहुँचने मे असमर्थ है।

मैं शुद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्मा हूँ, इस तत्व की उपलब्धि के अतिरिक्त ईसा के जीवन मे अन्य कोई कार्य न था और कोई चिन्ता न थी। वे वास्तव मे विदेह शुद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्मास्वरूप थे। यही नही, उन्होने अपनी अद्भुत दिव्य दृष्टि से जान लिया था कि सभी नर-नारी, चाहे वे यहूदी हो या किसी अन्य इतर जाति के हो, दरिद्र हो या धनवान, साधु हो या पापात्मा, उनके ही समान अविनाशी आत्मास्वरूप है। इसलिए उनके जीवन मे हम एकमात्र यही कार्य देखते है कि वे सारी मानव जाति को अपने शुद्ध-बुद्ध-चैतन्यस्वरूप की उपलब्धि करने के लिये आह्वान दे रहे है। उन्होने कहा, "यह कुसस्कारमय मिथ्या भावना छोड़ दो कि हम दीन हीन है। यह न सोचो कि तुम पर गुलामो के

समान अत्याचार किया जा रहा है, तुम पैरो तले रौदे जा रहे हो, क्योकि तुममे एक ऐसा तत्व विद्यमान है जिसे पददलित व पीडित नही किया जा सकता, जिसका विनाश नही हो सकता।" तुम सब ईश्वर के पुत्र हो, अमर और अनादि हो। अपनी महान् वाणी से ईसा ने जगत् मे घोषणा की, "दुनिया के लोगो, इस बात को भलीभाँति जान लो कि स्वर्ग का राज्य तुम्हारे अभ्यन्तर मे अवस्थित है।"—"मै और मेरे पिता अभिन्न है।" साहस कर खड़े हो जाओ और घोषणा करो कि मै केवल ईश्वरतनय ही नही हूँ, पर अपने हृदय मे मुझे यह भी प्रतीति हो रही है कि मै और मेरे पिता एक और अभिन्न है। नाजरथवासी ईसा मसीह ने यही कहा। उन्होने इस ससार व इस देह के सबध मे कभी कुछ न कहा। जगत् के साथ उनका कुछ भी सम्बन्ध नही था उसके साथ सम्पर्क केवल इतना ही था कि वे उसे प्रगति-पथ पर कुछ आगे की ओर बढा देगे—और धीरे धीरे तब तक अग्रसर करते रहेगे जब तक कि समग्र जगत् उस परम ज्योतिर्मय परमेश्वर के निकट नही पहुँच जाता, जब तक कि प्रत्येक मानव अपने प्रकृत स्वरूप की उपलब्धि नही कर लेता, जब तक कि दु ख-कष्ट व मृत्यु जगत् से सम्पूर्ण रूप से निर्वासित नही हो जाते।

ईसा के जीवन पर लिखी गई विभिन्न परस्पर-विरोधी आख्यायिकाये हमने पढी है। उनकी जीवनी के समालोचक विद्वज्जनो, उनकी ग्रन्थावलियाँ व 'उच्चतर भाष्यादि' * से भी

* उच्चतर भाष्य (Higher or Historical Criticism) इतिहास व साहित्य की दृष्टि से बाइबिल के विभिन्न अंशों की रचना, रचनाकाल व उनकी प्रामाणिकता के सम्बन्ध में विचार-परिप्लुत साहित्य-राशि का नाम।

हमारा परिचय है। इन सब आलोचनाओ द्वारा क्या सम्पादित किया गया है इससे भी हम अज्ञ नही है। हमे यहाँ इस विवाद मे नही पड़ना है कि बाइबिल के न्यू टेस्टामेट का कितना अश सत्य है या उनमे वर्णित ईसा मसीह का जीवन-चरित्र कहाँ तक ऐतिहासिक सत्य पर आधारित है। ईसा की पॉचवी शताब्दी तक न्यू टेस्टामेट लिखा जा चुका था या नही अथवा ईसा के जीवन-चरित्र मे कितना सत्याश है, इससे भी हमे कोई प्रयोजन नही। किन्तु इन सब लेखो का आधार एक ऐसी वस्तु है जो अवश्य सत्य है, अनुकरणीय है। मिथ्या प्रलाप करने के लिये भी हमें किसी सत्य की नकल करनी पड़ती है, और सत्य सदैव वास्तविक ही होता है। जिसका कभी कोई अस्तित्व ही नही था, उसका अनुकरण भी कैसा ? जिसे किसी ने कभी देखा नही, उसकी नकल कैसे हो सकती है ? इसलिये यह अनुमान करना स्वाभाविक है कि बाइबिल की कथाये कितनी ही अतिरञ्जित, अतिशयोक्तिपूर्ण क्यो न हो, उस कल्पना का अवश्य कोई आधार था। निश्चित ही उस युग मे, जगत् मे किसी महाशक्ति का आविर्भाव हुआ था, किसी महान् आध्यात्मिक शक्ति का अपूर्व विकास हुआ था——और उसी की आज हम चर्चा कर रहे हैं। उस महाशक्ति के अस्तित्व मे जब हमे कोई सदेह नही है तब हमे पण्डितवर्ग द्वारा की गई आलोचनाओ का क्या भय ? यदि एक प्राच्यदेशीय के रूप मे मैं नाजरथ-निवासी ईसा की उपासना करूँ तो मेरे लिये ऐसा करने की केवल एक ही विधि है और वह

Textual or Verbal Criticism अर्थात् बाइबिल के वाक्य व शब्द-राशि सम्बन्धी चर्चा से इसके पृथक् एवं उच्चतर होने के कारण इसे 'उच्चतर भाष्य' कहा गया है।

है उनकी ईश्वर के समान आराधना करना। उनकी अर्चना की और कोई विधि मैं नही जानता। क्या आप कहते है कि हमे इस प्रकार उनकी उपासना करने का अधिकार नही है? यदि हम ईसा को अपने ही हीन धरातल पर आसीन कर, उन्हे केवल एक महान् व्यक्ति मान उनके प्रति कुछ सम्मान प्रदर्शित करने मे ही अपने कर्तव्य की इति-श्री मान लेते है, तो फिर उपासना का प्रयोजन ही क्या रह गया? हमारे शास्त्र कहते है, "ये अनन्त-ज्योति के पुत्र जिनमे ब्रह्म की ज्योति प्रकाशित है, जो स्वय ब्रह्मज्योति-स्वरूप है आराधित किये जाने पर, हमारे साथ तादात्म्यभाव प्राप्त कर लेते है और हम भी उनके साथ एकत्व स्थापित कर लेते है।" हम देखते है कि मनुष्य तीन प्रकार से ईश्वरोपलब्धि कर सकते है। प्रथमावस्था मे अविकसित मनुष्य की अपरिपक्व बुद्धि कल्पना करती है कि ईश्वर आकाश मे बहुत ऊँचे, किसी स्वर्ग नामक स्थान मे सिंहासनासीन हो न्यायाधीश की भाँति पाप-पुण्य का निर्णय करता है। लोग उसका 'महद्भय वज्रमुद्यत' के रूप मे दर्शन करते है। ईश्वर की एवविध भावना मे भी कोई बुराई नही है। तुम्हे यह स्मरण रखना चाहिये कि मानवजाति की गति सदैव एक सत्य से दूसरे सत्य की ओर रही है, असत्य से भ्रम से सत्य व यथार्थ की ओर नही; या यदि आप इसी भाव को अन्य शब्दो मे व्यक्त करना पसद करे, तो मानवजाति निम्नतर सत्य से उच्चतर सत्य की ओर प्रयाण करती है, असत्य से सत्य की ओर नही। कल्पना कीजिये कि आप एक सरल रेखा मे पृथ्वी से सूर्य की ओर जा रहे है। प्रथमतः आपको सूर्य एक लघु बिम्ब के समान दृष्टिगत होगा। किन्तु कई लक्ष कोस प्रयाण करने पर सूर्य का आकार दीर्घ से दीर्घतर होता जायगा। ज्यो

ज्यों ज्यों हम अग्रसर होते रहेंगे, त्यों त्यों सूर्य अधिकाधिक दीर्घाकार दिखने लगेगा। अब यदि यात्रा की भिन्न भिन्न अवस्थाओं से आप सूर्य के बीस हजार छायाचित्र लें, तो वे अवश्य ही एक दूसरे से भिन्न होंगे। किन्तु क्या आप यह नहीं कहेंगे कि वे एक ही वस्तु – एक ही सूर्य के छायाचित्र हैं? इसी प्रकार भिन्न भिन्न धर्म, चाहे वे उच्चतर हों या निम्नतर, उस अनन्त ज्योतिर्मय परमेश्वर की ओर मानव के प्रयाण की भिन्न भिन्न अवस्थायें मात्र हैं। उनमें केवल यही भेद है कि किसी में ईश्वर की निम्नतर धारणा की गई है और किसी में उच्चतर। इसलिये संसार की अविकसित बुद्धियुक्त साधारण जातियों के धर्मों में सदैव ही एक ऐसे ईश्वर की कल्पना की गई है, जो भौतिक विश्व की परिधि के बाहर, स्वर्ग नामक स्थान में निवास करता है, वहीं से संसार-चक्र की गति-विधि पर नियंत्रण करता है, और पापपुण्य का न्याय कर मनुष्यों को दण्ड व पुरस्कार वितरित करता है। ज्यों ज्यों मनुष्य आध्यात्मिक प्रगति करता गया, त्यों त्यों उसे यह प्रतीत होने लगा कि ईश्वर सर्वव्यापी है, सारे अग-जग, सर्व चराचर में वह प्रकाशित हो रहा है, उसमें खुद में भी उसी ईश्वर का निवास है। उसे अनुभव होने लगा कि ईश्वर सब आत्माओं की अन्तरात्मा है और उनसे दूर अवस्थित नहीं है। जिस प्रकार मेरी आत्मा मेरे शरीर का परिचालन करती है, वैसे ही ईश्वर मेरी आत्मा का संचालन करता है, मेरी आत्मा में विद्यमान अन्तरात्मा है। कतिपय व्यक्तियों ने अपनी चिन्तन-शक्ति द्वारा, अपनी साधना की सहायता से इतनी चित्तशुद्धि प्राप्त कर ली, इतनी प्रगति कर ली कि वे पूर्वोक्त धारणा का अतिक्रम कर, स्वयं ईश्वर की उपलब्धि करने में सफल हो गये। जैसा कि न्यू

टेस्टामेंट में कहा गया है, "ये शुद्धहृदय व्यक्ति धन्य है, क्योंकि इन्हें परमेश्वर के दर्शन हो सकेंगे।" और उन्हें अन्त में इस तत्व की उपलब्धि हो सकी कि वे और उनके पिता एक हैं।

आप देखेंगे कि न्यू-टेस्टामेंट में मानवजाति के उस महान् आचार्य ने भी ईश्वर-प्राप्ति की इस सोपान-त्रयी की ही शिक्षा दी है। उन्होंने जिस सार्वजनिक प्रार्थना (Common Prayer) की शिक्षा दी है, उसकी ओर लक्ष्य कीजिये "हे मेरे स्वर्ग-निवासी पिता, तेरे नाम का सदैव जयजयकार हो" इत्यादि। यह सरल-भावनायुक्त प्रार्थना है, एक शिशु की प्रार्थना जैसी है। देखिये, यह साधारण सार्वजनिक प्रार्थना है, क्योंकि यह अशिक्षित जन-साधारण के लिये है। अपेक्षाकृत उच्चतर व्यक्तियों के लिये, जो साधनामार्ग में किञ्चित् अधिक अग्रसर हो गये थे, ईसा ने अपेक्षाकृत उच्च साधना का उपदेश दिया है "मैं अपने पिता में वर्तमान हूँ, तुम मुझमें वर्तमान हो और मैं तुममें वर्तमान हूँ।" क्या तुम्हें याद है यह? और फिर जब यहूदियों ने ईसा से पूछा था "तुम कौन हो?" तो ईसा ने अपनी महान् वाणी में घोषणा की, "मैं और मेरे पिता एक हैं।" यहूदियों ने सोचा यह धर्म की घोर निन्दा है, भगवान का घोर अपमान है। पर ईसा के कथन का अर्थ क्या था? यह भी तुम्हारे पैगम्बरगण स्पष्ट कर गये हैं "तुम सब देव या ईश्वर हो तुम सब उस परात्पर पुरुष की सन्तान हो।" देखिये, बाइबिल में भी इस त्रिविध सोपान का उपदेश है। आप यह भी देखेंगे कि प्रथमावस्था से आरम्भ करके धीरे धीरे अन्तिम अवस्था में आरोहण करना अपेक्षाकृत अधिक सरल व स्वाभाविक है।

ईश्वर के अग्रदूत, दैवी सदेश-वाहक ईसा सत्योपलब्धि का

मार्ग प्रदर्शित करने अवतीर्ण हुए थे। वे हमे यह बताने आये थे कि नानाविध धार्मिक क्रियाकलाप, अनुष्ठानादि से आत्म-तत्व प्राप्त नही किया जा सकता, गूढ दार्शनिक तर्क-वितर्को से आत्म-तत्व की प्राप्ति नही होती। अच्छा होता यदि तुम कोई पुस्तक न पढते, अच्छा होता यदि तुम विद्याहीन होते। मुक्ति के लिये इन उपकरणों की आवश्यकता नही है, उसके लिये धन, ऐश्वर्य और उच्च पद की जरूरत नही, यहाँ तक कि पाण्डित्य की भी आवश्यकता नही। उसके लिये केवल एक वस्तु की आवश्यकता है और वह है शुद्धता। "शुद्धहृदय पुरुष धन्य है," क्योकि आत्मा स्वयं शुद्ध है, वह अन्यथा अर्थात् अशुद्ध हो भी कैसे सकती है? ईश्वर से ही उसका आविर्भाव हुआ है, वह ईश्वर-प्रसूत है। बाइबिल के शब्दो मे वह "ईश्वर का नि श्वास है।" कुरान की भाषा मे "वह ईश्वर की आत्मा-स्वरूप है।" क्या आप कहना चाहते है कि ईश्वरात्मा कभी अशुद्ध हो सकती है? किन्तु दुर्भाग्य से हमारे शुभाशुभ कार्यो के कारण वह मानो सदियो के मैल, सैकड़ो वर्षो की अशुद्धि और धूलि से आवृत है, हमारे नानाविध दुष्कर्म, नानाविध अन्याय कार्य शत-शत वर्षों से अज्ञानरूपी धूलि और मलिनता द्वारा उसके प्रकाश को मन्द कर रहे है। केवल इस धूलि और मैल की तह को उस पर से पोंछने भर की देर है कि आत्मा पुन अपनी उज्ज्वल व दिव्य प्रभा से प्रकाशित हो जायगी। "शुद्धहृदय व्यक्ति धन्य है, क्योकि वे ईश-दर्शन करेगे।" महान् स्वर्गराज्य तुम्हारे ही अन्तर मे विराजमान ह।" और इसीलिये नाजरथ का यह महान् पैगम्बर पूछता है, "जब स्वर्ग तुम्हारे अन्तर मे विराजमान है, तो उसे ढूँढ़ने अन्यत्र कहाँ जा रहे हो? अपनी आत्मा को मॉज-

पोंछकर साफ करो, मलिनता का अपसारण करो, अवश्य तुम्हे अपनी ही आत्मा मे वह विशाल स्वर्ग-राज्य दृष्टिगत होगा। वह तो पहले से ही तुम्हारी सम्पत्ति है। यदि उस पर तुम्हारा स्वत्व नही है तो तुम कैसे उसे पा सकते हो? तुम उसके आजन्म अधिकारी हो। तुम अमरता के अधिकारी हो, तुम उस नित्य, सनातन पिता की सतान हो, स्वर्गराज्य तुम्हारा जन्मसिद्ध अधिकार है।"

यह है उस महान् सदेश-वाहक की महान् शिक्षा। उसकी दूसरी शिक्षा है त्याग जो प्राय सभी धर्मो का आधार है। आत्मशुद्धि कैसे प्राप्त की जा सकती है? त्याग द्वारा। एक धनी युवक ने एक बार ईसा से पूछा, "प्रभो, अनन्त जीवन की प्राप्ति के लिये मै क्या करूँ?" ईसा बोले, "तुममे एक बडा अभाव है। यहाँ से घर जाकर अपनी सारी सम्पत्ति बेच दो, जो धन प्राप्त हो उसे गरीबो को दान कर दो। तुम्हे स्वर्ग मे अक्षय धन-सम्पदा प्राप्त होगी। उसके बाद 'क्रॉस' धारण कर मेरा अनुगमन करो।" धनी युवक यह सुनकर अत्यन्त उदास हो गया व दुखी होकर चला गया, क्योकि अपनी अपार सम्पत्ति का मोह वह नही त्याग सकता था। हम सब न्यूनाधिक अशो मे उसी युवक के समान है। रातदिन हमारे कानो मे यही महावाणी ध्वनित होती रहती है। हमारे आनन्द के क्षणो मे, सासारिक विषयोपभोग मे, हम सोचते है कि हम जीवन के सब उच्चतर आदर्श भूल गये है, पर इस अनवरत व्यापार मे जब कभी क्षणभर का विराम आता है, तो हमारे कानो मे वही महाध्वनि गूँजने लगती है, "अपना सर्वस्व त्याग कर मेरा अनुसरण करो।" "जो अपनी जीवन-रक्षा का प्रयत्न करेगा, वह उसे खो देगा,

और जो मेरे लिये अपना जीवन खोयेगा, वह उसे पा लेगा।।" जो भी अपना जीवन उसे समर्पित कर देगा, वही अमृतत्व-लाभ करेगा, उसे ही अमरता वरण करेगी। हमारी दुर्बलताओं के बीच, जीवन के अजस्र प्रवाह मे कही से एक क्षण का विराम आ उपस्थित हो जाता है और पुन उस महावाणी की घोषणा हमारे कानो मे शुरू हो जाती है· "अपना सर्वस्व त्याग कर दो, उसे गरीबो को बॉट दो और मेरा अनुगमन करो।"

स्वार्थशून्यता, नि स्पृहता, त्याग यही एक आदर्श है जिसकी ईसा मसीह ने शिक्षा दी है, जिसका दुनिया के सभी पैगम्बरो ने प्रचार किया है। इस त्याग का क्या तात्पर्य है? त्याग का मर्म केवल यही है कि नि स्पृहता, नि स्वार्थपरता ही नैतिकता का एकमेव आदर्श है। अहशून्य बनो। पूर्ण नि स्वार्थ-परता पूर्ण अहशून्यता ही हमारा एकमात्र आदर्श है। और इसका दृष्टान्त है ईसा का यह वाक्य. "यदि किसी ने तुम्हारे एक गाल पर थप्पड मार दिया है, तो दूसरा गाल भी उसकी ओर कर दो। यदि किसी ने तुम्हारा कोट छीन लिया है, तो तुम उसे अपना चोगा भी दे दो।"

आदर्श को अपने उच्च धरातल से नीचा न करते हुए हमे उसे प्राप्त करने का यथाशक्ति प्रयत्न करना चाहिये। और वह आदर्श अवस्था यह है जिस अवस्था मे मनुष्य का अहभाव पूर्णतया नष्ट हो जाता है, उसका स्वत्व-भाव लुप्त हो जाता है, जब उसके लिये ऐसी कोई वस्तु नही रह जाती जिसे वह 'मै' और 'मेरी' कह सके, जब वह सपूर्णतया आत्मविसर्जन कर देता है, मानो अपनी आहुति दे देता है। इस प्रकार अवस्थापन्न व्यक्ति के अतर मे स्वय ईश्वर निवास करते है, क्योकि ऐसे

व्यक्ति की अहवासना पूर्ण रूप से नष्ट हो गई है, एकदम निर्मूल हो गई है। यह है हमारा आदर्श, और यद्यपि इस आदर्शावस्था को हम प्राप्त नही हुए है तथापि हमे इस आदर्श की पूजा करते हुए, स्खलित पदो से ही क्यो न हो, उस ओर शनै शनै अग्रसर होते रहना चाहिये। आज, कल या सहस्रो वर्ष के बाद हमे उस आदर्श को प्राप्त करना ही होगा, क्योकि यह आदर्शावस्था हमारी साधना का केवल अन्त ही नही हमारी साधना का मार्ग भी है। नि स्वार्थपरता, पूर्ण अहशून्यता साक्षात् मुक्ति है, क्योकि अहशून्य होने पर भीतर का व्यक्ति मर जाता है, और अवशिष्ट रह जाता है केवल ईश्वर।

एक बात और है। मानवजाति के सभी महान् आचार्य सम्पूर्णतया स्वार्थशून्य है। कल्पना कीजिये कि नाजरथ के ईसा उपदेश दे रहे है और इसी बीच कोई व्यक्ति उठकर पूछने लगता है, "आपका उपदेश बहुत सुन्दर है, मेरा विश्वास है कि पूर्णत्व-प्राप्ति का यही एक मार्ग है और मै उसका अनुसरण करने को भी प्रस्तुत हूँ, किन्तु मै ईश्वर के एकमात्र उत्पन्न पुत्र के रूप मे आपकी उपासना नही कर सकता।" ईसा मसीह के पास इसका क्या उत्तर होगा? सोचिये। अवश्य ईसा उस व्यक्ति से कहते, "अच्छा भाई, आदर्श का अनुसरण करो और अपने भाव के अनुसार उस ओर प्रगति करो। तुम मुझे मेरे उपदेशो के लिये कोई श्रेय दो या न दो मुझे इसकी चिन्ता नही है। मै कोई दूकानदार नही हूँ, बनिया नही हूँ। मै धर्म का व्यवसाय नही करता। मै केवल सत्य की शिक्षा देता हूँ और सत्य किसी की बपौती किसी की जायदाद नही है। सत्य पर किसी का एकाधिपत्य नही है। सत्य स्वय ईश्वर है। तुम अपने मार्ग पर

अग्रसर होते जाओ।" पर आज ईसा के अनुयायी उसी प्रश्न का यह जवाब देते हैं, "तुम इन उपदेशो पर, इन उसूलों पर अमल करो या न करो, इससे हमे कोई मतलव नही, पर तुम उपदेशक का सम्मान तो करते हो न? यदि तुम उपदेशक का सम्मान करते हो तो अवश्य ही तुम्हारा उद्धार हो जायगा, यदि नही तो तुम्हारी मुक्ति की कोई आशा नही।" इस प्रकार उन महापुरुष की सारी शिक्षाओ को विकृत स्वरूप दे दिया गया है। सारे विवाद, सारे झगड़े, केवल उपदेशक के व्यक्तित्व को लेकर खडे होते हैं। वे नही जानते कि उपदेशक और उपदेश मे इस प्रकार का भेद आरोपित कर वे उसी व्यक्ति को लाछित व अपमानित कर रहे हैं जो उनका आदरणीय व पूजार्ह है, जो स्वय इस प्रकार के विचार सुनकर लज्जा से सकुचित हो जाता। संसार मे कोई उन्हे स्मरण करते है या नही, इसकी उन महापुरुष को क्या परवाह थी? उन्हे तो विश्व को एक सदेश देना था और वह उन्होने दे दिया। इसके बाद यदि उन्हे बीस सहस्र जीवन भी प्राप्त होते तो उन्हे वे दुनिया के गरीब से गरीब आदमी के लिए भी निछावर कर देते। यदि लक्ष लक्ष घृणित 'समारिया' वासियो के उद्धार के लिए उन्हे करोड़ो बार करोड़ों यातनाये भी सहनी पड़ती, यदि उनमे से एक एक की मुक्ति के लिए उन्हे अपने जीवन की भी आहुति देनी पड़ती तो वे सहर्ष यह सब अंगीकार कर लेते और यह सब करते हुए उन्हे यह इच्छा छू भी न पाती कि दुनिया मे किसी को उनका नाम मालूम हो। स्वयं ईश्वर जिस प्रकार कार्य करता है वे भी उसी प्रकार शान्त, स्थिर, नीरव और अज्ञात रूप से अपना कार्य करते। लेकिन इनके अनुयायी क्या कहते है? वे कहते है "तुम पूर्ण निःस्वार्थ और

दोषरहित ही क्यों न हो, जब तक तुम हमारे पैगम्बर, हमारे धर्माचार्य की पूजा और उनका सम्मान नहीं करोगे, तुम्हारा उद्धार नहीं होगा।" पर यह क्यों ? इस कुसंस्कार, इस अज्ञान का कारण क्या है इसकी उत्पत्ति कहाँ से हुई ? इसका एकमात्र कारण यही हो सकता है कि ईसा के शिष्यगण सोचते हैं ईश्वर केवल एक ही बार अवतीर्ण हो सकता है। किन्तु यही विचार सब कुसंस्कारों, सब भ्रमों की जड़ है। ईश्वर मानव-रूप में तुम्हारे सामने प्रकट हुआ है। किन्तु प्राकृतिक जगत् में जो घटनायें होती हैं, वे अवश्यमेव भूतकाल में भी हुई हैं और भविष्य में भी होंगी। प्रकृति में ऐसी कोई घटना नहीं है जो नियमाधीन न हो। उसके नियमबद्ध होने का अर्थ केवल यही है कि जो घटना एक बार हुई है, वह चिरकाल से ही घटती आ रही है और भविष्य में भी घटती रहेगी।

भारतवर्ष में ईश्वरावतार के सम्बन्ध में यही सिद्धान्त प्रचलित है। भारतीयों के अन्यतम अवतार श्रीकृष्ण ने, जिनकी भगवद्गीता-स्वरूप अपूर्व उपदेश-माला आपमें से अनेकों ने पढ़ी होगी, कहा है

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया।।
यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे।। गीता, ४।६-८

अर्थात् "यद्यपि मैं जन्मरहित, अक्षयस्वभाव व इस भूतसमूह का ईश्वर हूँ, तथापि मैं अपनी प्रकृति का अधिष्ठान कर, अपनी माया

से जन्म ग्रहण करता हूँ। हे अर्जुन! जब जब धर्म की अवनति व अधर्म का उत्थान होता है, तब तब मैं शरीर धारण करता हूँ। साधुजन के परित्राणार्थ, दुष्कार्य-रत व्यक्तियो के विनाशार्थ व धर्म की सस्थापना के लिये मैं प्रत्येक युग मे जन्म ग्रहण करता हूँ।" जब ससार की अवनति होने लगती है, तो भगवान उसकी सहायता करने को अवतार लेते है, इस प्रकार वे विभिन्न स्थानो व विभिन्न युगो मे आविर्भूत होते रहते है। दूसरे एक स्थान मे भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है

यद्यद्विभूतिमत्सत्व श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्व मम तेजोऽशसभवम्॥—गीता, १०।४१

"जहाँ कही किसी असाधारण शक्तिसम्पन्न व पवित्र आत्मा को मानवजाति के उत्थान के लिये यत्नशील देखो, तो यह जान लो कि वह मेरे ही तेज से उत्पन्न हुआ है, मैं उसके माध्यम से कार्य कर रहा हूँ।"

इसलिए हमे केवल नाजरथवासी ईसा मे ही ईश्वर का दर्शन न कर विश्व के उन सभी महान् आचार्यों व पैगम्बरो मे भी उसका दर्शन करना चाहिये जो ईसा के पहले जन्म ले चुके थे, जो ईसा के पश्चात् आविर्भूत हुए है और जो भविष्य मे अवतार ग्रहण करेगे। हमारा सम्मान और हमारी पूजा सीमाबद्ध न हो। ये सब महापुरुष उसी एक अनन्त ईश्वर की विभिन्न अभिव्यक्ति है। वे सब शुद्ध और स्वार्थगन्धशून्य है, सभी ने इस दुर्बल मानवजाति के उद्धार के लिए प्राणपण से प्रयत्न किया है, इसी के लिए अपना जीवन निछावर कर दिया है। वे हमारे और हमारी आनेवाली सतान के सब पापो को ग्रहण कर उनका प्रायश्चित्त कर गये है।

एक दृष्टि से हम सभी अवतार है, सब अपने कधो पर ससार का भार वहन कर रहे है। क्या तुमने कोई ऐसा व्यक्ति देखा है ऐसी कोई स्त्री देखी है जो धैर्यपूर्वक, शान्ति से अपने लघु ससार, अपने जीवन का लघु भार न वहन कर रही हो? ये महान् अवतार हमारी तुलना मे अवश्य ही बहुत बड़े थे और इसलिये वे अपने कधो पर इस विशाल जगत् का भार उठाने मे भी सफल हो सके। अवश्य उनसे तुलना करने पर हम अतिक्षुद्र और बौने प्रतीत होते है, किन्तु हम भी वही कार्य कर रहे है हम भी अपने छोटे छोटे घरो मे, अपने छोटे संसार मे अपनी छोटी छोटी सुख-दुख की गठरियाँ सिर पर रख अग्रसर हो रहे है। कोई इतना कपदार्थ नही है, कोई इतना हीन नही है जो अपना भार स्वय नही वहन करता। हमारी सब भ्रान्तियो, सब दुष्कृतियो, हमारे सब हीन व गर्हित विचारो के लाछन व अपवाद की कालिमा के बावजूद भी, हमारे चरित्र मे एक उज्ज्वल अश है, कही न कही एक ऐसा सुवर्ण-सूत्र है जिसके द्वारा हम सदैव भगवान से सयुक्त रहते है। कारण, यह निश्चय ही जानो कि जिस क्षण भगवान के साथ हमारा यह सयोग नष्ट हो जायगा, उसी क्षण हमारा विनाश हो जायगा। और चूँकि कभी किसी का सपूर्ण नाश होना असम्भव है, हम कितने ही हीन, पतित व दुष्कर्मरत क्यो न हो, कही न कही हमारे हृदय मे हमारे अन्तर के अन्तर्तम प्रदेश मे ज्योति की एक ऐसी किरण विराजमान है जो भगवान से चिर-सयुक्त है।

विभिन्नदेशीय, विभिन्नजातीय व विभिन्न-मतावलम्बी, भूतकाल के उन सब महापुरुषो को हम प्रणाम करते है जिनके उपदेश और चरित्र हमने उत्तराधिकार मे पाये है। विभिन्न

जातियों, देशों व धर्मों में जो देवतुल्य नर-नारीगण मानवजाति के कल्याण में रत हैं, उन सबको प्रणाम है। जीवन्त ईश्वरस्वरूप, जो महापुरुष भविष्य में हमारी संतान के लिये निःस्पृहता से कार्य करने के लिये अवतार धारण करेंगे उन सबको प्रणाम है।

भगवान बुद्ध

(अमेरिका के डिट्रॉइट नामक शहर में स्वामी विवेकानन्द ने भगवान बुद्ध पर निम्नलिखित विचार व्यक्त किये ।)

हरएक धर्म मे हम किसी एक प्रकार की साधना को चरम सीमा पर पहुँची हुई पाते है। बौद्ध धर्म मे निष्काम कर्म का भाव अत्यन्त प्रबल है। आप लोग बौद्ध धर्म व ब्राह्मण्य धर्म का भेद नही समझते। बौद्ध धर्म हमारे धर्म का केवल एक सप्रदाय मात्र है। भारतीय वर्णव्यवस्था, कठिन कर्म-काण्ड व दार्शनिक वाद-विवादो से ग्लानि हो जाने पर गौतम नामक एक महापुरुष ने बौद्ध धर्म की स्थापना की। कुछ लोग कहते है कि हमारा एक विशेष कुल जन्म हुआ है और इसलिये हम उन लोगो से श्रेष्ठ है जिनका जन्म ऐसे वश मे नही हुआ। भगवान बुद्ध का इस सिद्धान्त मे कोई विश्वास न था वे इस प्रकार के जाति-भेद के विरोधी थे। और पुरोहित लोग जो धर्म के नाम पर कपटाचरण द्वारा स्वार्थ-सिद्धि करते थे, इसके भी वे घोर विरोधी थे। इसलिये उन्होने एक ऐसे धर्म का प्रचार किया जिसमे कामनाओ व वासनाओ के लिये स्थान न था। वे दर्शन तथा ईश्वर सम्बन्धी नानाविध मतवादो की आलोचना करना नही चाहते थे — इस सम्बन्ध मे वे सम्पूर्ण अज्ञेयवादी थे।

उनसे कई बार ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध मे प्रश्न पूछे गये, पर उन्होने सदैव यही उत्तर दिया, "मै नही जानता।" उनसे पूछा गया कि मनुष्य का प्रकृत कर्तव्य क्या है। वे बोले, "चरित्रवान् बनो और दूसरो का भला करो।" एक बार पॉच ब्राह्मणो ने आकर उनसे विनती की, "भगवन्, हमारे वाद-

विवाद का न्याय कीजिये।" उनमे से एक ने कहा, "भगवन्, मेरे शास्त्रो मे ईश्वर का यह स्वरूप बतलाया गया है और उसकी प्राप्ति के लिये यह मार्ग दर्शाया गया है।" दूसरा ब्राह्मण बोला, "नही, यह सब मिथ्या है, क्योकि मेरे शास्त्र मे इसके विपरीत लिखा है और ईश्वर-प्राप्ति का अन्य मार्ग बतलाया गया है।" इस प्रकार दूसरो ने भी शास्त्रो की दोहाई देकर ईश्वर के स्वरूप तथा उसकी प्राप्ति के सम्बन्ध मे अपने अपने मत प्रकट किये। बुद्धदेव यह विवाद शान्तिपूर्वक सुनकर उनसे क्रमश. पूछने लगे, "क्या किसी के शास्त्र मे यह भी कथन है कि ईश्वर कभी क्रोध करता है, किसी की हानि करता है या अशुद्ध है?" वे सभी बोले, "नही भगवन्, हमारे सभी शास्त्र यही कहते है कि ईश्वर शुद्ध, विकाररहित और कल्याणकर है।" तब भगवान बुद्ध बोले, "मित्रो, तब तुम पहिले शुद्ध और सदाचारी बनने की चेष्टा क्यो नही करते, जिससे तुम्हे ईश्वर का ज्ञान हो सके?"

मैं बौद्ध-दर्शन से पूर्णतया सहमत नही हूँ। मुझे अपने लिये दार्शनिक विचार की यथेष्ट आवश्यकता प्रतीत होती है। मेरा बुद्ध के कई सिद्धान्तो से मतभेद है, किन्तु यह मेरे उस महान् आत्मा के चरित्र व भाव-सौन्दर्य के दर्शन मे बाधक नही है। बुद्ध ही एक व्यक्ति थे जो पूर्णतया व यथार्थ मे निष्काम कहे जा सकते हैं। ऐसे अन्य कई महापुरुष थे जो अपने को ईश्वर का अवतार कहते थे और विश्वास दिलाते थे कि जो उनमे श्रद्धा रखेगे, वे स्वर्ग प्राप्त कर सकेगे। पर बुद्ध के अधरो पर अन्तिम क्षण तक ये ही शब्द थे, "अपनी उन्नति अपने ही प्रयत्न से होगी। अन्य कोई इसमे तुम्हारा सहायक नहीं हो सकता। स्वय अपनी मुक्ति प्राप्त करो।" अपने सबध मे भगवान बुद्ध कहा करते थे, "बुद्ध

शब्द का अर्थ है आकाश के समान अनन्तज्ञानसम्पन्न; मुझ गौतम को यह अवस्था प्राप्त हो गई है। तुम भी यदि प्राणपण से प्रयत्न करो तो उस स्थिति को प्राप्त कर सकते हो।" बुद्ध ने अपनी सब कामनाओ पर विजय पा ली थी। उन्हे स्वर्ग जाने की कोई लालसा न थी और न ऐश्वर्य की ही कोई कामना थी। अपना राज-पाट व सर्वविध सुखो को तिलाजलि दे, ये राजकुमार अपना सिन्धु-सा विशाल हृदय लेकर नर-नारी व जीव-जन्तुओ के कल्याण के हेतु, आर्यावर्त की वीथी-वीथी मे भ्रमण कर भिक्षा-वृत्ति से जीवन-निर्वाह करते हुए अपने उपदेशो का प्रचार करने लगे। जगत् मे वे ही एकमात्र ऐसे थे जो यज्ञो मे पशु-बलि-निवारण के हेतु किसी प्राणी के जीवन-रक्षार्थ अपना जीवन भी निछावर करने को तत्पर रहते थे। एक बार उन्होने एक राजा से कहा, "यदि किसी निरीह पशु के होम करने से तुम्हे स्वर्ग-प्राप्ति हो सकती है, तो मनुष्य के होम से और किसी उच्च फल की प्राप्ति होगी। राजन्, उस पशु के पाश काटकर मेरी आहुति दे दो शायद तुम्हारा अधिक कल्याण हो सके।" राजा स्तब्ध हो गया। इस प्रकार हम देखते है कि भगवान बुद्ध पूर्ण रूप से निष्काम थे। वे कर्मयोग के ज्वलन्त आदर्शस्वरूप थे और जिस उच्चावस्था पर वे पहुँच गये थे उससे प्रतीत होता है कि कर्म-शक्ति द्वारा हम भी उच्चतम आध्यात्मिक स्थिति को प्राप्त कर सकते है।

ईश्वर मे विश्वास रखने से अनेक व्यक्तियो का मार्ग सुगम हो जाता है। किन्तु बुद्ध का चरित्र बताता है कि एक ऐसा व्यक्ति भी जो नास्तिक है, जिसका किसी दर्शन मे विश्वास नही, जो न किसी सम्प्रदाय को मानता है और न किसी मन्दिर-मस्जिद

मे ही जाता है, जो घोर जडवादी है, परमोच्च अवस्था प्राप्त कर सकता है। बुद्ध के मतामत या कार्यकलापो का मूल्यांकन करने का हमे कोई अधिकार नही। उनके विशाल हृदय का सहस्राश पाकर भी मैं स्वयं को धन्य मानता। बुद्ध की आस्तिकता या नास्तिकता से मुझे कोई मतलब नही। उन्हे भी वह पूर्णावस्था प्राप्त हो गई थी जो अन्य जन भक्ति, ज्ञान या योग के मार्ग से प्राप्त करते हैं। केवल इसमे-उसमे विश्वास करने से ही पूर्णता प्राप्त नही होती; जल्पना से कोई अर्थ-सिद्धि नही होती। यह तो शुक-सारिका भी कर लेते है। केवल निष्काम कर्म ही मनुष्य को पूर्णत्व तक पहुँचा सकता है।

हमारे अन्य प्रकाशन

हिन्दी विभाग

१-३. श्रीरामकृष्णवचनामृत तीन भागों में—अनु० प सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', प्रथम भाग (तृतीय संस्करण) मूल्य ६);
द्वितीय भाग (द्वि सं.) मूल्य ६), तृतीय भाग (द्वि. सं.) मूल्य ७);

४-५. श्रीरामकृष्णलीलामृत (विस्तृत जीवनी) (तृतीय संस्करण)— दो भागों में, प्रत्येक भाग का मूल्य ५)

६ विवेकानन्द-चरित (विस्तृत जीवनी) (द्वितीय संस्करण)- सत्येन्द्रनाथ मजूमदार, मूल्य ६)

७ परमार्थ-प्रसंग स्वामी विरजानन्द, (आर्ट पेपर पर छपी हुई)
कपडे की जिल्द, मूल्य ३॥)
कोर्डबोर्ड की जिल्द, ,, ३।)

स्वामी विवेकानन्द कृत पुस्तकें

८ विवेकानन्दजी के संग में (वार्तालाप) शिष्य शरच्चन्द्र, द्वि सं मूल्य ५।)

९. भारत में विवेकानन्द (द्वि सं.) ५)
१०. ज्ञानयोग (प्र. स) ३)
११ पत्रावली (प्रथम भाग) (प्र. स) २=)
१२ पत्रावली (द्वितीय भाग) (प्र सं) २=)
१३. देववाणी (प्र. सं.) २=)
१४. धर्मविज्ञान (द्वि. स) १॥=)
१५ कर्मयोग (द्वि. सं) १॥=)
१६. हिन्दू धर्म (द्वि. सं) १॥)
१७. प्रेमयोग (तृ स) १।=)
१८ भक्तियोग (तृ स) १।=)
१९ आत्मानुभूति तथा उसके मार्ग (तृ. स) १।)
२०. परिव्राजक (च. सं.) १।)
२१ प्राच्य और पाश्चात्य (च स.) १।)
२२. विविध प्रसंग (प्र. स.) १=)
२३ व्यावहारिक जीवन में वेदान्त (प्र स) १=)
२४. राजयोग (प्र स.) १=)
२५ स्वाधीन भारत ! जय हो ! (प्र. स.) १=)
२६. चिन्तनीय बातें (प्र. सं) १)
२७ धर्मरहस्य (द्वि. स) १)
२८. भारतीय नारी (द्वि सं.) ॥)
२९. भगवान रामकृष्ण धर्म तथा संघ (द्वि. स.) ॥=)
३०. शिक्षा (द्वि सं) ॥=)
३१. शिकागो-वक्तृता (ष स.) ॥=)

३२. हिन्दू धर्म के पक्ष में (द्वि. स.) ॥=)

३३. मेरे गुरुदेव (द्वि. सं.) ॥=)

३४. कवितावली (प्र. स.) ॥=)

३५. शक्तिदायी विचार (द्वि. स.) ॥=)

३६. हमारा भारत (प्र. स.) ॥)

३७. वर्तमान भारत (च. स.) ॥)

३८ मेरा जीवन तथा ध्येय (द्वि. स.) ॥)

३९. पवहारी बाबा (द्वि. स.) ॥)

४०. मरणोत्तर जीवन (द्वि. स.) ॥)

४१. मन की शक्तियाँ तथा जीवन-गठन की साधनायें (प्र. सं.) ॥)

४२ सरल राजयोग (प्र. स.) ॥)

४३. मेरी समर-नीति (प्र. सं.) ।≡)

४४. ईशदूत ईसा (प्र. सं.) ।=)

४५ विवेकानन्दजी से वार्तालाप (प्र. स.) १।=)

४६. विवेकानन्दजी की कथायें (प्र. स.) १।)

४७. श्रीरामकृष्ण-उपदेश (प्र. सं.) ॥=)

४८. वेदान्त सिद्धान्त और व्यवहार —स्वामी शारदानन्द, (प्र. स.) ।=)

४९. गीतातत्त्व—स्वामी शारदानन्द, (प्र. सं.) २।=)

मराठी विभाग

१-२ श्रीरामकृष्ण-चरित्र प्रथम भाग (तिसरी आवृत्ति) ४।
द्वितीय भाग (दुसरी आवृत्ति) ४।=

३ श्रीरामकृष्ण-वचनामृत (पहिली आवृत्ति) (अंतरग शिष्यांशीं व भक्तांशीं झालेलीं भगवान श्रीरामकृष्णाचीं संभाषणें) ५॥

४ महापुरुषांच्या जीवनकथा (पहिली आवृत्ति) स्वामी विवेकानंद १॥=

५. कर्मयोग (पहिली आवृत्ति) स्वामी विवेकानद १॥=

६. माझे गुरुदेव (दुसरी आवृत्ति)- स्वामी विवेकानद ॥=

७. हिंदु धर्माचें नव-जागरण (पहिली आवृत्ति)—स्वामी विवेकानंद ॥-

८. शिक्षण (पहिली आवृत्ति)—स्वामी विवेकानद ॥-

९. पवहारी बाबा (पहिली आवृत्ति)—स्वामी विवेकानद ॥

१० शिकागो व्याख्यानें (तिसरी आवृत्ति) स्वामी विवेकानद ॥=

११ श्रीरामकृष्ण-वाक्सुधा (तिसरी आवृत्ति) भगवान श्रीरामकृष्णांच्या निवडक उपदेशांचें त्यांच्याच एका अंतरंग भक्ताने केलेलें सकलन. ॥=

१२ साधु नागमहाशय-चरित्र (भगवान श्रीरामकृष्णाचे सुप्रसिद्ध शिष्य)— (दुसरी आवृत्ति) २ रु.

श्रीरामकृष्ण आश्रम, धन्तोली, नागपुर – १, म. प्र.

